राष्ट्रीय चेतना के विकास में हिन्दी अनुवाद की भूमिका, 1857-1920

RASHTRIYA CHETNA KE VIKAS MEIN HINDI ANUVAD KI BHOOMIKA, 1857-1920

ROLE OF HINDI TRANSLATION IN THE DEVELOPMENT OF NATIONAL CONSCIOUSNESS, 1857-1920

शोध निर्देशक

प्रो. देवशंकर नवीन

शोधार्थी

व्योमकेश शर्मा

2022

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली - 110067

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature & Culture Studies
NEW DELHI - 110067

Dated: 28/06/2022

Declaration

I hereby declare that the Ph.D. thesis entitled **"राष्ट्रीय चेतना के विकास में हिन्दी अनुवाद की भूमिका, 1857-1920" RASHTRIYA CHETNA KE VIKAS MEIN HINDI ANUVAD KI BHOOMIKA, 1857-1920, ROLE OF HINDI TRANSLATION IN THE DEVELOPMENT OF NATIONAL CONSCIOUSNESS, 1857-1920** submitted by me is the original research work. It has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/ Institution to the best of my knowledge.

I further declare that no plagiarism has been committed in my work. If anything is found plagiarized in my thesis, I will be solely responsible for the act.

Vyomkesh Sharma

Vyomkesh Sharma
Name of Student

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, Literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated: 28/ 06 /2022

Certificate

This is to certify that the **Mr. Vyomkesh Sharma**, a bona-fide Research Scholar of Centre of Indian Languages, SLL&CS has fulfilled all the requirements as per the University Ordinance for the submission of Ph.D. thesis entitled "**RASHTRIYA CHETNA KE VIKAS MEIN HINDI ANUVAD KI BHOOMIKA, 1857-1920" ROLE OF HINDI TRANSLATION IN THE DEVELOPMENT OF NATIONAL CONSCIOUSNESS, 1857-1920**

This may be placed before the examiners for evaluation for the award of the degree of Ph.D.

Prof. Deo Shankar Navin
(Supervisor)
CIL/SLL&CS/JNU

Dr. Deo Shankar Navin
Professor
Centre of Indian Languages
School of Language, Literature
& Culture Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110 067

Prof. Omprakash Singh
(Chairperson)
CIL/SLL&CS/JNU

अध्यक्ष / Chairperson
भारतीय भाषा केन्द्र / CIL
भा. सा. एवं सं. अ. सं. / SLL & CS
ज. ने. वि. / J.N.U
नई दिल्ली / New Delhi-110067

GRAM: JAYENU, Tel.: (91-011) 26741557, 26742676 Extn.: 4217, (D) 26704217; Telefax: (91-011) 26704217;
Email: chair_cil@mail.jnu.ac.in, jnucil@gmail.com

अनुक्रम

भूमिका **1-7**

पहला अध्याय : औपनिवेशिक सन्दर्भ में अनुवाद और आत्मसातीकरण **8-38**

- उपनिवेशवाद की अवधारणा
- उन्नीसवीं सदी में उपनिवेशवाद का स्वरूप
- आत्मसातीकरण और अनुवाद
- ब्रिटिश प्राच्यवाद में प्रतिबिम्बित हिन्दुस्तान

दूसरा अध्याय : भारतेन्दु युग के हिन्दी अनुवाद : औपनिवेशिक आत्मसातीकरण की प्रक्रिया का उत्तर **39- 67**

- बांग्ला से हिन्दी अनुवाद
- संस्कृत से हिन्दी अनुवाद
- अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद
- अनुवाद की प्रक्रिया में किए गए परिवर्तन और राष्ट्रीय चेतना

तीसरा अध्याय : द्विवेदी युग में अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद : राष्ट्रीय चेतना का प्रसार **68-97**

- महावीर प्रसाद द्विवेदी के हिन्दी अनुवादों के राष्ट्रीय सरोकार
- रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी अनुवाद
- श्रीधर पाठक की अनूदित कविताओं का सन्दर्भ
- पत्रकारिता और हिन्दी अनुवाद

चौथा अध्याय : द्विवेदी युग में भारतीय भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद : राष्ट्रीय चेतना का मूर्त रूप **98-119**

- भारत की बहुलतावादी संस्कृति और अनुवाद
- स्वाधीनता आन्दोलन में हिन्दी अनुवाद की भूमिका
- भारतीय भाषाओं से हिन्दी में होने वाले अनुवादों का एक परिचय

पाँचवाँ अध्याय : हिन्दी अनुवादों में व्यक्त राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप **120-159**

- राष्ट्र और राष्ट्रीय चेतना : एक सैद्धांतिक परिचय
- आरंभिक हिन्दी अनुवाद और हिन्दी-उर्दू विवाद
- भारतेन्दु युग के हिन्दी अनुवादों की राष्ट्रीय चेतना
- द्विवेदी युग के हिन्दी अनुवादों की राष्ट्रीय चेतना

उपसंहार **160-170**

अनुक्रमणिका **171-176**

भूमिका

'राष्ट्रीय चेतना के विकास में हिन्दी अनुवाद की भूमिका, 1857-1920' विषय पर शोध प्रबन्ध लिखने का विचार मेरे मन में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केन्द्र की एम.ए. और एम. फिल (हिन्दी अनुवाद) की कक्षाओं के दौरान आया था। हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों के अध्ययन के क्रम में मुझे यह ज्ञात हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विभिन्न साहित्यिक विधाओं के विकास और हिन्दी नवजागरण का वैचारिक आधार तैयार करने में अनुवाद की केंद्रीय भूमिका थी। यह मेरे लिए बड़ी उत्सुकता और जिज्ञासा का विषय था कि साहित्यिक और वैचारिक लेखन के माध्यम से देश में राष्ट्रीय विचारों के प्रसार और सामाजिक बदलाव में अनुवाद ने किस प्रकार अपनी भूमिका निभाई थी? इस विषय पर शोध करने के मूल में यही प्रेरणा थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने स्थापना-काल से ही भारत के आर्थिक शोषण की अपनी नीति को 'लोक प्रशासन' और 'सभ्यता' के मुहावरों से वैध बनाने की प्रक्रिया शुरू कर दी थी। एशियाटिक सोसाइटी, फोर्ट विलियम कॉलेज, कलकत्ता मदरसा, बनारस संस्कृत कॉलेज आदि संस्थानों की स्थापना का उद्देश्य ज्ञानार्जन के साथ ही भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक संरचनाओं का विस्तार करना भी रहा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रमुख उद्देश्य भारत का आर्थिक दोहन करना था। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए कम्पनी ने भारत में समय-समय पर प्रशासनिक सुधार किए। औपनिवेशिक शोषण की प्रक्रिया को सरल बनाने के लिए देश में रेलवे, डाक, टेलीग्राम आदि की व्यवस्था की गई। आधुनिक उद्योग-धन्धों का विकास किए बिना ही भारत के पारम्परिक उद्योगों को नष्ट कर दिया गया। भारत के गाँव आत्म-उत्पादक इकाई के केन्द्र थे, हस्त शिल्प उद्योगों से इनके सदियों पुराने आर्थिक संबंधों को छिन्न-भिन्न कर दिया गया।

भारत का प्राचीन इतिहास और संस्कृति ब्रिटिश अध्येताओं और संस्थानों के लिए कौतूहल का विषय थी। भारत पर लम्बे समय तक अपना औपनिवेशिक शासन बनाए रखने के लिए भी ब्रिटिश अधिकारियों को भारत के इतिहास, धार्मिक रीति-रिवाज, परम्परा, रहन-सहन और भौगोलिक विशिष्टताओं का ज्ञान होना आवश्यक था। भारत के अतीत की खोज को लेकर ब्रिटिश संस्थाओं और अध्येताओं के अध्ययन एवं विश्लेषण को लेकर कई मत प्रचलित हैं। पर

औपनिवेशिक दृष्टिकोण से प्रभावित कम्पनी राज के अधीन काम करने वाली संस्थाओं एवं व्यक्तियों का प्रयत्न भारतीय संस्कृति के प्रधान अंश को आध्यात्मिक और रहस्यवादी सिद्ध करना ही रहा। इनके लिए भौतिकतावादी, नए ज्ञान-विज्ञान से युक्त यूरोपीय संस्कृति की तुलना में भारत की संस्कृति पौराणिक और पिछड़ी थी। अधिकांश ब्रिटिश अध्येताओं द्वारा यह स्थापित करने का प्रयास किया गया कि भारत के लोग 'सभ्य' नहीं हैं, इनकी सामाजिक-धार्मिक मान्यताएँ पिछड़ी हैं, इन्हें 'सभ्य' बनाना 'गोरे लोगों की सांस्कृतिक जिम्मेदारी' है।

ब्रिटिश अध्येताओं के एक वर्ग द्वारा अनुवाद को हथियार के रूप में इस्तेमाल किया गया और भारतीय पाठ के विकृत अनुवाद के माध्यम से भारतीयों को सांस्कृतिक रूप से हीन सिद्ध करने का सचेत प्रयास किया गया। उपनिवेशवाद ने भारतीयों की 'चित विजय' या दिमागी गुलामी का जो अभियान आरंभ किया, उसका पहला कदम था, भारतीय साहित्य का अनुवाद करना। अंग्रेज बुद्धिजीवियों ने भारतीय कानून, दर्शन, इतिहास, साहित्य आदि का अनुवाद किया और अपने शासन के अनुकूल इसकी व्याख्या की। अंग्रेज प्रशासक अनुवाद के माध्यम से भारत के आत्मबोध और जगत बोध को, उनकी अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों और रचनाओं को अपनी दृष्टि, भावना तथा समझ के अनुकूल बना रहे थे। इस तरह एक औपनिवेशिक विमर्श का निर्माण हो रहा था जो ब्रिटिश उपनिवेशवादियों द्वारा भारत के आत्मसातीकरण का प्रमुख साधन था।

एक ओर जहाँ ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में अपनी सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक जड़ों को मजबूत कर रही थी, वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों के एक वर्ग में अंग्रेजों की औपनिवेशिक नीतियों को लेकर सवाल पैदा हो रहा था। इन बुद्धिजीवियों का परिचय अमरीकी क्रान्ति, फ्रांस की क्रान्ति, दुनिया भर में चल रहे आन्दोलनों और नए ज्ञान-विज्ञान से होने लगा था। ब्रिटिश संस्थाओं और प्रशासकों की भूमिका को लेकर बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात के आधुनिक शिक्षा प्राप्त एक बड़े वर्ग में असन्तोष पैदा होने लगा था। उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में इस चेतना का केन्द्र बंगाल था और इसके सूत्रधार राजा राम मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, हेनरी विवियन डेरोजियो आदि थे। आरम्भ में इस चेतना का प्रसार धर्म, समाज-सुधार आन्दोलनों पर केन्द्रित था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस वैचारिक चेतना का प्रसार हिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी हुआ।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी भारतीय विचारकों द्वारा अंग्रेजों की औपनिवेशिक नीतियों की आलोचना शुरू हो गई थी। दादा भाई नौरोजी ने सन् 1867 में धन-निष्कासन सिद्धांत द्वारा अंग्रेजों द्वारा भारत की औपनिवेशिक लूट का विस्तृत विवेचन किया और रमेश चन्द्र दत्त ने उपनिवेशवाद के विभिन्न चरणों का विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया। हिन्दी नवजागरण पर इस चेतना का स्पष्ट प्रभाव पड़ा। दादा भाई नौरोजी के विचारों को आत्मसात करते हुए भारतेन्दु ने अपने साहित्य में कई जगह मुखर रूप में और कई जगह राजभक्ति की आड़ में अंग्रेजी राज के कुप्रभावों के बारे में लिखा और देश-हित की बात की। जैसे - *'जो भारत जग में रह्यो सबसों उत्तम देश ताही भारत में रह्यो अब नहीं सुख को लेस'*, *'भीतर-भीतर सब रस चूसै बाहर से तन मन धन मूसै'*, *'अंधाधुंध मच्यो सब देसा, मानहुं राजा रहत बिदेसा'* और सबसे बढ़कर *'अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी। पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख़्वारी'।* भारतेन्दु की ये पंक्तियाँ राष्ट्रवादी आर्थिक इतिहासकारों के विचारों के आत्मसातीकरण की ही देन हैं। धन बहिर्गमन सिद्धान्त के विचारों को आत्मसात करके भारतेन्दु ने इसकी पुनर्प्रस्तुति की।

ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति के अधीन काम कर रहे अनुवादकों एवं व्याख्याकारों ने अनुवाद के माध्यम से भारत के अतीत के औपनिवेशिक आत्मसातीकरण की जिस प्रक्रिया की शुरुआत की थी, उसका उत्तर देने के लिए भारतीय नवजागरण और हिन्दी नवजागरण के दौरान अनुवादों की एक लम्बी परम्परा दिखाई देती है। इसका सबसे प्रमुख उदाहरण भारतेन्दु द्वारा किया गया *मर्चेन्ट आफ वेनिस* का अनुवाद है। *दुर्लभ बन्धु* अनुवाद में भारतेन्दु ने भारतीयता को तरजीह दी और देश-काल के अनुसार इसमें कई परिवर्तन किए। इसके पीछे भारतेन्दु की दृष्टि औपनिवेशिक आत्मसातीकरण की प्रक्रिया का उत्तर देने की ही थी। सन् 1885 में कांग्रेस की स्थापना के बाद धीरे-धीरे एक अखिल भारतीय संगठन के रूप में इसका महत्त्व स्थापित हुआ और सन् 1906 में स्वदेशी आन्दोलन के साथ ही इसकी भूमिका राष्ट्रीय स्तर पर अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो गई। स्वदेशी आन्दोलन के दौरान देश में साम्राज्यवाद-विरोध की लहर चल पड़ी। देश की लगभग सभी भाषाओं में राष्ट्रीय चेतना के प्रसार के लिए महत्त्वपूर्ण रचनाएँ की गईं और दुनिया की प्रमुख भाषाओं के ज्ञान-विज्ञान एवं साहित्य का अनुवाद हुआ। सन् 1900 से सन् 1920 के बीच देश में राष्ट्रीय चेतना का व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। इस दौरान अनुवादों का दायरा भी बढ़ता गया।

हिन्दी साहित्य में महावीर प्रसाद द्विवेदी इस नई वैचारिक चेतना के प्रसार में सबसे अग्रणी माने जाते हैं। उन्होंने साहित्य को ज्ञान राशि का संचित कोश माना और कई महत्त्वपूर्ण अनुवाद किए। सन् 1906 में अर्नेस्ट जोन्स की कविता *कवि और स्वतन्त्रता* का हिन्दी अनुवाद छापकर इस युग की मुखपत्र *सरस्वती* पत्रिका ने अपनी नीति में बदलाव के संकेत दे दिए थे। हिन्दी नवजागरण की चेतना के प्रचार-प्रसार में *सरस्वती* पत्रिका की भूमिका ऐतिहासिक रही। आगे चलकर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने फ्रांसिस बेकन के निबन्धों, हर्बर्ट स्पेंसर के *एजूकेशन* और जे.एस. मिल की *लिबर्टी* के अनुवाद के माध्यम से एक नई बौद्धिक चेतना के विस्तार का मार्ग प्रशस्त किया। इस चेतना सरोकार राष्ट्र निर्माण के प्रश्नों से जुड़े हुए थे।

आगे चलकर हिन्दी अनुवादों का दायरा और व्यापक होने लगा। इसकी परिधि में विज्ञान, दर्शन और इतिहास जैसे गंभीर विषयों का समावेश हुआ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हैकेल के *रिड्ल आफ दि यूनिवर्स* का *विश्व प्रपंच* नाम से अनुवाद किया और इसकी एक लम्बी भूमिका लिखी। *विश्व प्रपंच* के अलावा उन्होंने *शशांक, बुद्ध चरित, आदर्श जीवन* आदि अनूदित कृतियों के माध्यम से हिन्दी साहित्य में विविध प्रकार के विचारों का प्रवर्तन किया। श्रीधर पाठक ने ओलिवर गोल्डस्मिथ की कविताओं का *श्रान्त पथिक, ऊजड़ ग्राम* और *एकान्तवासी योगी* नाम से अनुवाद किया। ये अनुवाद स्वच्छंद चेतना से प्रभावित थे और प्रकृति प्रेम इनके केन्द्र में था। इन अनुवादों ने हिन्दी नवजागरण और राष्ट्रीय चेतना के विकास को एक वैचारिक आधार प्रदान किया। इनका मूल्यांकन युगीन परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में ही संभव है।

यदि राष्ट्रीय चेतना के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी अनुवादों के इतिहास पर दृष्टि डाली जाए तो भारतेन्दु युग के अनुवादों को औपनिवेशिक आत्मसातीकरण की प्रक्रिया का उत्तर माना जा सकता है। इस प्रक्रिया में सर्वाधिक अनुवाद संस्कृत और बांग्ला से हुए। इन अनुवादों की प्रक्रिया में किए गए परिवर्तन तत्कालीन परिस्थितियों की देन भर नहीं थे, इनका एक व्यापक राष्ट्रीय सन्दर्भ था। इस दृष्टि से रचनाओं के चुनाव से लेकर अनुवाद की भाषा तक का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। जहाँ भारतेन्दु युग में अनुवादों के केन्द्र में 'भावना' का स्थान प्रमुख था, वहीं द्विवेदी युग में इसके केन्द्र में 'बौद्धिक चेतना' आ गई थी। इसके परिणामस्वरूप हिन्दी समाज में राष्ट्रीय विषयों पर नवीन चिंतन और आधुनिक दृष्टि के निर्माण का एक व्यापक वैचारिक आधार निर्मित हुआ। विज्ञान, दर्शन, इतिहास और शिक्षा संबंधी अनुवादों ने इस वैचारिक आधार को और विस्तार दिया, जिसके प्रभाव से आगे चलकर साहित्य में राष्ट्रीय चेतना और देश-दशा से संबंधित विषयों पर अनेक मौलिक रचनाएँ की गईं। सन् 1915 में महात्मा गाँधी का भारतीय

राजनीति में प्रवेश हुआ और सन् 1920 तक धीरे-धीरे देश ने महात्मा गाँधी की चाल चलना शुरू कर दिया। असहयोग आन्दोलन के रूप में पहले जन-आंदोलन के साथ ही देश भर में राष्ट्रवादी चेतना का बड़े पैमाने पर प्रसार हुआ, जिसका ब्रिटिश उपनिवेशवाद से बुनियादी अन्तर्विरोध प्रकट होने लगा। राष्ट्रीय चेतना के इस विस्तार में अनुवाद की प्रमुख भूमिका रही।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से प्रस्तुत शोध-प्रबंध पांच अध्यायों में विभक्त है। पहला अध्याय *औपनिवेशिक सन्दर्भ में अनुवाद और आत्मसातीकरण* है। इस अध्याय में *उपनिवेशवाद की अवधारणा, उन्नीसवीं सदी में उपनिवेशवाद का स्वरूप, आत्मसातीकरण और अनुवाद, ब्रिटिश प्राच्यवाद में प्रतिबिम्बित हिंदुस्तान* उप अध्याय हैं। *उपनिवेशवाद की अवधारणा* उप अध्याय में उपनिवेशवाद का अवधारणात्मक विवेचन और विश्लेषण किया गया है। *उन्नीसवीं सदी में उपनिवेशवाद का स्वरूप* उप अध्याय में भारत में उपनिवेशवाद के क्रमिक विकास के क्रम में उपनिवेशवाद के विभिन्न चरणों पर चर्चा की गई है। इसमें उपनिवेशवाद के विभिन्न चरणों में इसके बदलते स्वरूप का भी विश्लेषण किया गया है। *आत्मसातीकरण और अनुवाद* उप अध्याय में आत्मसातीकरण और अनुवाद के अंतस्संबंधों पर चर्चा की गई है। *ब्रिटिश प्राच्यवाद में प्रतिबिम्बित हिंदुस्तान* उप अध्याय में ब्रिटिश अध्येताओं की अनुवाद दृष्टि और भारत के प्राचीन साहित्य के अनुवाद में निहित औपनिवेशिक उद्देश्यों का विवेचन किया गया है। भारत के प्राचीन साहित्य के विकृत अनुवाद के माध्यम से किस प्रकार भारतीयों को हीन सिद्ध करने की औपनिवेशिक दृष्टि ने अनुवाद जैसे पुनीत कर्म को दूषित किया, यह भी इस उप अध्याय में दिखाया गया है।

दूसरा अध्याय *भारतेन्दु युग के हिन्दी अनुवाद : औपनिवेशिक आत्मसातीकरण की प्रक्रिया का उत्तर* है। यह अध्याय *बांग्ला से हिन्दी अनुवाद, संस्कृत से हिन्दी अनुवाद, अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद* और *अनुवाद की प्रक्रिया में किए गए परिवर्तन और राष्ट्रीय चेतना* उप अध्यायों में विभक्त हैं। *बांग्ला से हिन्दी अनुवाद* उप अध्याय में भारतेन्दु युग में बांग्ला से हिन्दी में किए गए अनुवादों का परिचय दिया गया है। *संस्कृत से हिन्दी अनुवाद* उप अध्याय में संस्कृत से हुए अनुवादों का परिचय दिया गया है। *अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद* उप अध्याय में अंग्रेजी से हुए अनुवादों का परिचय दिया गया है। *अनुवाद की प्रक्रिया में किए गए परिवर्तन और राष्ट्रीय चेतना* उप अध्याय में अनुवादकों की अनुवाद दृष्टि और अनुवादों में किए गए परिवर्तन का विवेचन और विश्लेषण किया गया है।

तीसरा अध्याय *द्विवेदी युग में अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद : राष्ट्रीय चेतना का प्रसार* है। यह अध्याय *महावीर प्रसाद द्विवेदी के हिन्दी अनुवादों के राष्ट्रीय सरोकार, रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी अनुवाद, श्रीधर पाठक की अनूदित कविताओं का सन्दर्भ* और *पत्रकारिता और हिन्दी अनुवाद* उप अध्यायों में विभक्त है। *महावीर प्रसाद द्विवेदी के हिन्दी अनुवादों के राष्ट्रीय सरोकार* उप अध्याय में हिन्दी नवजागरण के संदर्भ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा किए गए अनुवादों *बेकन-विचार-रत्नावली, शिक्षा, स्वाधीनता* आदि के महत्त्व का विवेचन किया गया है। द्विवेदी जी ने राष्ट्रीय चेतना के प्रसार के राष्ट्रीय उद्देश्य से प्रेरित होकर न केवल विभिन्न ग्रन्थों का अनुवाद किया बल्कि हिन्दी में मौलिक लेखन की आधार-भूमि तैयार करने का ऐतिहासिक कार्य किया। *रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी अनुवाद* उप अध्याय में आचार्य शुक्ल द्वारा विज्ञान, दर्शन और शिक्षा संबंधी अनुवादों के महत्त्व का विवेचन किया गया है और इस बात पर विचार किया गया है कि इनका अनुवाद कर्म किस प्रकार उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण के वृहत्तर संदर्भों से जुड़ा है। *श्रीधर पाठक की अनूदित कविताओं का सन्दर्भ* उप अध्याय में श्रीधर पाठक के अनुवादों का युगीन संदर्भों में विश्लेषण किया गया है। इस उप अध्याय में यह विवेचन भी किया गया है कि इनके अनुवाद किस प्रकार पश्चिमी देशों में औद्योगीकरण के बाद आई विसंगतियों और इसके अंतर्विरोधों से परिचित कराते हैं, साथ ही इनमें इंग्लैण्ड और यूरोप के देशों की जगह भारत के प्राकृतिक सौन्दर्य के चित्रण का क्या निहितार्थ है।

चौथा अध्याय *द्विवेदी युग में भारतीय भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद: राष्ट्रीय चेतना का मूर्त रूप* है। यह अध्याय *भारत की बहुलतावादी संस्कृति और अनुवाद, स्वाधीनता आन्दोलन में हिन्दी अनुवाद की भूमिका* और *भारतीय भाषाओं से हिन्दी में होने वाले अनुवादों का एक परिचय* उप अध्यायों में विभक्त है। *भारत की बहुलतावादी संस्कृति* उप अध्याय में बहुलतावाद का सैद्धांतिक विवेचन करते हुए अनुवाद के साथ इसके अंतस्संबंधों पर विचार किया गया है। भारत जैसे देश में अनुवाद ने किस प्रकार राष्ट्रीय एकीकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, यह भी इस उप अध्याय के केन्द्र में है। *स्वाधीनता आन्दोलन में हिन्दी अनुवाद की भूमिका* उप अध्याय में स्वाधीनता आंदोलन के विशेष संदर्भ में हिन्दी अनुवादों के अवदान पर चर्चा की गई है। *भारतीय भाषाओं से हिन्दी में होने वाले अनुवादों का एक परिचय* उप अध्याय में भारतीय भाषाओं से हिन्दी में होने वाले अनुवादों का परिचय दिया गया है। इस उप अध्याय में इस बात पर भी विचार किया गया है कि मराठी और बांग्ला से हुए अनुवाद राष्ट्रीय चेतना के प्रसार की दृष्टि से क्यों महत्त्वपूर्ण हैं।

पाँचवाँ अध्याय *हिन्दी अनुवादों में व्यक्त राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप* है। यह अध्याय *राष्ट्र और राष्ट्रीय चेतना : एक सैद्धांतिक परिचय, आरंभिक हिन्दी अनुवाद और हिन्दी-उर्दू विवाद, भारतेन्दु युग के हिन्दी अनुवादों की राष्ट्रीय चेतना,* और *द्विवेदी युग के हिन्दी अनुवादों की राष्ट्रीय चेतना* उप अध्यायों में विभक्त है। *राष्ट्र और राष्ट्रीय चेतना : एक सैद्धांतिक परिचय* उप अध्याय में राष्ट्र और राष्ट्रीय चेतना का सैद्धांतिक विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है। *आरंभिक हिन्दी अनुवाद और हिन्दी-उर्दू विवाद* उप अध्याय में आरंभिक अनुवादों के भाषाई स्वरूप एवं अनुवादकों की भाषा-नीति का अध्ययन किया गया है। *भारतेन्दु युग के हिन्दी अनुवादों की राष्ट्रीय चेतना* उप अध्याय में भारतेन्दु युग में हुए हिन्दी अनुवादों में अभिव्यक्त राष्ट्रीय चेतना के स्वरूप का विवेचन और विश्लेषण किया गया है। *द्विवेदी युग के हिन्दी अनुवादों की राष्ट्रीय चेतना* उप अध्याय में द्विवेदी युग में हुए हिन्दी अनुवादों में अभिव्यक्त राष्ट्रीय चेतना के स्वरूप पर विचार किया गया है। संदर्भ ग्रन्थों का उल्लेख भी यथास्थान किया गया है।

इस शोध-प्रबंध को लिखने के दौरान मुझे अपने गुरु प्रो. देवशंकर नवीन से हमेशा एक नई ऊर्जा मिली। सर के महत्त्वपूर्ण सुझावों से ही मैं अपने शोध के विषय की 'व्यापकता और गहराई' दोनों को समझ सका। इसके लिए मैं सर के प्रति कृतज्ञ हूँ। मैं, प्रो. ओमप्रकाश सिंह के निर्देशन और सहयोग के प्रति भी बहुत आभारी हूँ जिन्होंने मुझे इस शोध को पूरा करने के लिए निरंतर प्रेरित और प्रोत्साहित किया।

व्योमकेश शर्मा

पहला अध्याय

औपनिवेशिक सन्दर्भ में अनुवाद और आत्मसातीकरण

- उपनिवेशवाद की अवधारणा
- उन्नीसवीं सदी में उपनिवेशवाद का स्वरूप
- आत्मसातीकरण और अनुवाद
- ब्रिटिश प्राच्यवाद में प्रतिबिम्बित हिन्दुस्तान

पहला अध्याय

औपनिवेशिक सन्दर्भ में अनुवाद और आत्मसातीकरण

उपनिवेशवाद (Colonialism) शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के 'कोलोनिया' (Colonia) शब्द से हुई है। इसका अर्थ 'स्थान' (Form) अथवा 'बस्ती' या 'उपनिवेश' (Settlement) है। उपनिवेशवाद के संदर्भ में 'बस्ती' या 'उपनिवेश' का तात्पर्य ऐसी संपत्ति अथवा परिसंपत्ति से लिया जाता है, जिसे विदेशियों के बीच स्थापित किया गया हो और वहाँ के निवासियों को कोई राजनीतिक अधिकार न दिए गए हों। इंटरनेशनल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइंस के अनुसार उपनिवेशवाद विदेशी या अजनबी लोगों के ऊपर एक विस्तारित समय के लिए शासन की स्थापना है।

उपनिवेशवाद की अवधारणा

इंग्लैण्ड द्वारा आयरलैण्ड और वेल्स को उपनिवेश बनाने की घटना को उपनिवेशवाद का आरंभिक उदाहरण माना जाता है। जिस उपनिवेशवाद की चर्चा यहाँ की जाएगी उसका तात्पर्य यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा गैर-यूरोपीय राष्ट्रों पर सत्ता स्थापित करना और विजित राष्ट्रों की भाषा, धर्म, प्रशासनिक व्यवस्था, जीवन-शैली, रहन-सहन आदि पर अपने मूल्य और

मान्यताओं तथा व्यवस्थाओं को थोपने से है। औपनिवेशिक हस्तक्षेप का प्रभाव दीर्घकालिक होता है। उपनिवेशों की संस्कृति और व्यवस्था पर इसका दूरगामी प्रभाव पड़ता है और इन सबके फलस्वरूप हुए सांस्कृतिक और ढाँचागत बदलावों से मुक्त हो पाना उपनिवेशों की जनता के लिए अत्यंत दुष्कर हो जाता है।

ओम प्रकाश गाबा के अनुसार "उपनिवेशवाद एक ऐसी प्रथा है जिसके अंतर्गत किसी उन्नत देश के लोग अपने देश की सरकार की अनुमति, सहायता और समर्थन से किसी पिछड़े हुए देश में जाकर बस जाते हैं, वहां अपना प्रभुत्व और प्रशासन स्थापित कर लेते हैं, अर्थात् उसे पराधीन बना देते हैं। फिर वे अपनी भाषा, रीति-रिवाज और अपने मूल देश के प्रति निष्ठा कायम रखते हुए पराधीन देश के प्राकृतिक और मानवीय संसाधनों (Natural and Human Resources) का अपने मूल देश के हित में इस्तेमाल करते हैं।"[1] स्पष्ट है उपनिवेशवाद का तात्पर्य किसी शक्तिशाली और बड़े राष्ट्र द्वारा किसी कमजोर और अविकसित राष्ट्र पर राजनीतिक नियत्रंण स्थापित करने से लिया जाता है। ऐतिहासिक रूप से देखें तो इस राजनीतिक नियंत्रण का उद्देश्य समर्थ राष्ट्र द्वारा निर्बल राष्ट्र के आर्थिक संसाधनों पर कब्जा करना और इसका अपने राष्ट्र के हित में दोहन करना रहा। अपने विशेष आर्थिक उद्देश्यों को पूरा करने की प्रक्रिया में बड़े और शक्तिशाली राष्ट्र अपने उपनिवेशों पर सामाजिक-आर्थिक एवं सांस्कृतिक वर्चस्व स्थापित करने लगे।

कंपनी राज के दौरान भारत में इस सांस्कृतिक वर्चस्व को स्थापित करने का प्रयास भारत की प्राचीन धार्मिक और ऐतिहासिक पुस्तकों के दूषित अनुवाद के रूप में देखा जा सकता है। ब्रिटिश अध्येताओं के एक वर्ग ने अपने विकृत अनुवादों के माध्यम से भारतीयों को सांस्कृतिक रूप से हीन सिद्ध करने का प्रयास किया था। इस विषय में प्रो. देवशंकर नवीन का मत है, "अनुवाद को ब्रिटिश उपनिवेशीय पद्धति में शासकीय तिकड़म के अचूक हथियार की तरह उपयोग किया गया...ब्रिटिश वर्चस्व के उदय से अनुवाद के कई फलक खुल गए। अनुवाद की मंशा बदल गई, शासकीय हस्तक्षेप के कारण अनुवाद की धारणा दूषित हो उठी।"[2]

उपनिवेशवाद प्रशासन और ज्ञान-विज्ञान में हस्तक्षेप के विभिन्न तौर-तरीकों से अपनी सत्ता को वैध ठहराने का भरसक प्रयत्न करता है। आर्थिक दोहन उपनिवेशवाद का मूल चरित्र है।

---

[1] गाबा, ओम प्रकाश, *राजनीति विज्ञान विश्वकोश,* पृ. 74

[2] नवीन, देवशंकर, *अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य,* पृ. 15-16

हिन्दी उपन्यासकार कमलेश्वर के प्रसिद्ध उपन्यास *कितने पाकिस्तान* में अदीब नामक पात्र का कथन है "बाजार। बाजार!!! बाजार!! यही है औद्योगिक क्रान्ति का सतत जीवित रहने की मजबूरी भरा सिद्धांत। यही है पूंजीवाद। इसी का दूसरा नाम है साम्राज्यवाद। तीसरा नाम है उपनिवेशवाद।"[3] व्लादिमीर लेनिन के अनुसार 'पूंजीवाद की कोख से ही उपनिवेशवाद की प्रक्रिया की शुरुआत' हुई थी और आगे चलकर 'पूंजीवाद की चरम अवस्था से साम्राज्यवाद का उद्भव' हुआ। इसी अर्थ में कई विद्वान 'उपनिवेशवाद को पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के बीच की अवस्था' कहते हैं और उपनिवेशवाद को साम्राज्यवाद की एक विशेष अभिव्यक्ति मानते हैं।

एडवर्ड सईद ने अपनी पुस्तक *संस्कृति और साम्राज्यवाद* (सन् 1993) में साम्राज्यवाद को व्याख्यायित करते हुए लिखा है, "साम्राज्यवाद एक ऐसी स्थिति है जिसमें कोई विशाल देश किसी दूरवर्ती देश पर अपना शासन स्थापित कर लेता है। इस अर्थ में साम्राज्यवाद विश्व-इतिहास के सभी युगों में प्रचलित रहा है। परंतु उपनिवेशवाद एक आधुनिक अवधारणा है जिसकी शुरुआत मुख्यतः औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के बाद हुई।"[4]

औद्योगिक क्रान्ति के साथ ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था में कई बदलाव हुए, जिसके फलस्वरूप ब्रिटेन और अन्य यूरोपीय देश कृषि-प्रधान देश से उद्योग-प्रधान देश में परिणत होते चले गए। सन् 1760 से सन् 1840 के वर्षों में ये आर्थिक बदलाव अपनी चरम अवस्था में देखे जा सकते हैं। औद्योगिक राष्ट्रों ने अपनी कच्चे माल की जरूरतों को पूरा करने के लिए देश के बाहर अन्य स्रोतों की तलाश शुरू की और अपने देश में तैयार माल को बेचने के लिए बड़े बाज़ारों की जरूरत को महसूस किया। औद्योगिक क्रान्ति की इन नई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए निर्बल और अल्पविकसित राष्ट्रों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का तात्कालिक कारण यही था। यूरोपीय राष्ट्रों को अपनी शक्ति और कपट नीति के बल पर बाहरी दुनिया के देशों पर अपना आधिपत्य जमाने में विशेष कठिनाई नहीं हुई। यह आधिपत्य जिस रूप में स्थापित हुआ उसे ही उपनिवेशवाद कहा जाता है।

उपनिवेशवाद की पृष्ठभूमि का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि यूरोप में पंद्रहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के दौरान दो बड़े आंदोलन हुए। सामंतवाद का पतन एवं पुनर्जागरण और धर्म सुधार आंदोलन का उदय। इन दोनों आंदोलनों ने 'प्राचीन यूरोप' को

---

3 कमलेश्वर, *कितने पाकिस्तान*, पृ. 291

4 गाबा, ओम प्रकाश, *राजनीति विज्ञान विश्वकोश,* पृ. 74

'आधुनिक यूरोप' में बदल दिया और एक ऐसे मनुष्य की अवधारणा सामने आई जिसे 'मैन विद वर्च्यू' के नाम से जाना गया। 'मैन विद वर्च्यू' इतालवी भाषा के 'मैन दि यूनिवेर्सेलो' का ही समानार्थी है। इस अवधारणा के माध्यम से एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना की गई जो कुछ भी सोच सकता है और कुछ भी कर सकता है। यूरोप के शहरों में ऐसा ही एक बड़ा नवोदित मध्यम वर्ग पैदा हुआ, जिसके अंदर नवीन स्फूर्ति थी, सीखने की ललक थी, भरपूर आत्मविश्वास था और अथाह जिज्ञासा थी। इनमें से ही कुछ व्यक्तियों के समूह द्वारा ब्रिटेन में ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना की गई, जिसने भारत में ब्रिटिश राज की नींव डाली।

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनी पुस्तक *विश्व इतिहास की झलक* में उपनिवेशवाद के इसी पक्ष की ओर इशारा करते हुए लिखा है "पूंजीशाही ने साम्राज्यशाही का एक दूसरा और ज्यादा खूंखार ढंग पैदा किया। उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से में जैसे-जैसे औद्योगिक शक्तियों की होड़ बढ़ने लगी, वैसे-वैसे वे बाजारों व कच्चे मालों की तलाश में और भी दूर-दूर मैदानों की तरफ निगाहें दौड़ाने लगे। दुनिया भर में साम्राज्य के लिए बड़ी तेज छीना झपटी होने लगी। अब यूरोप की शक्तियाँ गिद्धों की तरह अफ्रीका पर टूट पड़ीं और उसे आपस में बाँट लिया। यहाँ भी इंग्लैंड ने सबसे बड़ा हिस्सा ले लिया। उत्तर में मिश्र और पूर्व, पश्चिम व दक्षिण में बड़े-बड़े निवाले उसके हाथ लगे।"[5]

उपनिवेशवाद की इस क्रूर विस्तारवादी प्रवृत्ति पर नेहरू जी आगे लिखते हैं, "चीखती-चिल्लाती, धमकाती, हड़प करती हुई साम्राज्यशाही सब जगह बे रोक टोक बढ़ रही थी। ब्रिटिश साम्राज्यशाही के नामी कवि रूडयार्ड किपलिंग ने 'गोरों का बोझ' के गीत गाए। फ्रांस वाले दूसरों को सभ्य बनाने के अपने मिशन की बातें करने लगे। जर्मनी को तो अपनी संस्कृति फैलाना ही था। बस, ये सभ्य बनाने वाले सुधार करने वाले और दूसरी कौमों का बोझ ढोने वाले बिल्कुल त्याग की भावना लेकर निकल पड़े और गेहुएँ, पीले व काले लोगों की पीठ पर सवार हो गए और काले आदमी के बोझ के बारे में किसी ने गीत नहीं गाया।"[6] स्पष्ट है सभ्यता निर्माण की खोल में अपने राजनीतिक और आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति ही उपनिवेशवाद का लक्ष्य रहा।

---

[5] नेहरू, जवाहरलाल, *विश्व इतिहास की झलक,* पृ. 184

[6] वही, पृ. 12

भारत में उपनिवेशवाद और ब्रिटिश शासन की शुरुआत सन् 1757 से मानी जाती है। सन् 1757 की प्लासी की लड़ाई में ईस्ट इंडिया कंपनी और बंगाल के तत्कालीन नवाब सिराजुद्दौला के बीच एक निर्णायक और ऐतिहासिक युद्ध हुआ था जिसमें कंपनी की सेना विजयी हुई और "बांग्ला कवि नवीनचन्द्र सेन के अनुसार प्लासी के युद्ध के बाद भारत के लिए शाश्वत दुख की काली रात का आरंभ हुआ।"[7] इस संबंध में दूसरा निर्णायक मोड़ बक्सर का युद्ध है जब 22 अक्टूबर, सन् 1764 को हेक्टर मुनरो के नेतृत्व में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की सेना ने बंगाल के नवाब मीर कासिम, अवध के नवाब शुजाउद्दौला और मुगल बादशाह शाह आलम द्वितीय की संयुक्त सेना को हरा दिया और भारत के एक बड़े भूभाग के राजस्व का अधिकार कंपनी को मिल गया। इन दो लड़ाइयों ने अंग्रेजों को भारत की सबसे बड़ी शक्ति के रूप में स्थापित कर दिया।

महात्मा गाँधी ने *हिन्द स्वराज* में लिखा है "अंग्रेज व्यापारियों को हमने बढ़ावा दिया, तभी वे हिन्दुस्तान में अपना पैर फैला सके। वैसे ही जब हमारे राजा लोग आपस में झगड़े तब उन्होंने कंपनी बहादुर से मदद मांगी। कंपनी बहादुर व्यापार और लड़ाई के काम में कुशल थे। उसमें उसे नीति-अनीति की अड़चन नहीं थी। व्यापार बढ़ाना और पैसा कमाना, यही उसका धंधा था। उसमें जब हमने मदद दी, तब उसने हमारी मदद ली और अपनी कोठियाँ बढ़ाई। कोठियों का बचाव करने के लिए उसने लश्कर रखा। उस लश्कर का हमने उपयोग किया, इसलिए अब उसे दोष देना बेकार है। उस वक्त हिन्दू-मुसलमानों के बीच बैर था। कंपनी को उससे मौका मिला। इस तरह हमने कंपनी के लिए ऐसे संजोग पैदा किए, जिससे हिन्दुस्तान पर उसका अधिकार हो जाए। इसलिए हिन्दुस्तान गया, ऐसा कहने के बजाए ज्यादा सच यह कहना होगा कि हमने हिन्दुस्तान अंग्रेजों को दिया।"[8] महात्मा गाँधी का यह कथन उपनिवेशवादी शासन व्यवस्था के आरंभ को समझने की महत्त्वपूर्ण कुंजी है।

भारत में मुगल वंश के पतन के बाद केंद्रीय स्तर पर राजनीतिक अस्थिरता का माहौल बन गया था। मुगल साम्राज्य के विघटन के बाद की आर्थिक व्यवस्था क्षीण हो गई थी। क्षेत्रीय शक्तियाँ अपने-अपने राज्य के हितों की रक्षा के लिए आपस में लड़ रही थीं। इनसे आर्थिक क्रिया-कलाप का वर्षों पुराना ताना-बाना छिन्न-भिन्न हो गया। व्यापार और वाणिज्य का काम बहुत मुश्किल हो गया। ब्रिटेन जैसे देश ऐसी परिस्थितियों का लाभ उठाने के लिए पूरी

---

[7] चन्द्र, विपिन, *आधुनिक भारत का इतिहास*, पृ. 51

[8] बरनवाल, वीरेन्द्र कुमार, *हिन्द स्वराज: नव सभ्यता-विमर्श,* पृ. 163

तरह से तैयार थे। इन सबका परिणाम ईस्ट इंडिया कंपनी के पक्ष में इसीलिए गया क्योंकि कंपनी ने तत्कालीन परिस्थितियों को बखूबी समझा और भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक नीतियों को राजनीतिक और आर्थिक दोनों स्तरों पर लागू किया। उपनिवेशवाद इसीलिए फलीभूत हुआ क्योंकि उसे भारत में अनुकूल परिस्थितियाँ मिलीं और मुगल साम्राज्य के पतन के बाद व्यापारिक और राजनीतिक वर्चस्व स्थापित करने के लिए भारत में पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी और ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी जैसी यूरोपीय कंपनियों की आपसी प्रतिस्पर्धा इसीलिए हुई क्योंकि भारत की भूमि उस समय उपनिवेशवाद के सर्वथा अनुकूल थी।

उपर्युक्त परिस्थितियों के सन्दर्भ में भारत में उपनिवेशवाद की स्थापना को लेकर इतिहासकारों ने कई मत दिए हैं। "ठीक साम्राज्यवादी ढंग से लिखते हुए पी. स्पीयर ने इन परिस्थितियों का इस प्रकार वर्णन किया है: इस प्रकार अंग्रेज हिन्दुस्तान की लावारिस जागीर के उत्तराधिकारी सिद्ध हुए।"[9] भारत में कंपनी राज के आगमन और ब्रिटिश शासन की स्थापना को लेकर प्रमुख रूप से दो विचार हैं: 'आकस्मिक' (Accidental) और 'योजनाबद्ध' (Planned)। अधिकांश इतिहासकारों ने इन्हीं दो मतों के आस-पास अपनी स्थापनाएं दी हैं। पहला मत जॉन सीले (John Seelay) ने लोकप्रिय बनाया वह था, "हमारी भारत विजय निरुद्देश्य थी। अंग्रेजों ने इतना बड़ा कार्य इतने अन्यमनस्क भाव तथा संयोगवश नहीं किया, जितना कि भारत की विजय। (Our acquisition of India was made blindly. Nothing great that has ever been done by Englishman was done so unintentionally and so incidentally, as the conquest of India.)"[10] इस मत के अनुसार, अंग्रेज भारत में व्यापार करने आए थे तथा उनकी कोई राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाएँ नहीं थीं।...दूसरे मत के प्रतिपादक यह विश्वास करते हैं कि अंग्रेज भारत में प्रदेश जीतने तथा एक स्थिर राज्य की नींव रखने की योजना लेकर आए। उन्होंने अपनी भव्य रूपरेखा में शनैः शनैः रंग भरकर एक महान साम्राज्य खड़ा कर दिया। इस मत के समर्थक अंग्रेजों की शांति तथा निष्पक्षता की उद्घोषणा को एक सस्ता ढोंग बतलाते हैं।"[11]

उपर्युक्त दोनों ही मत अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। यद्यपि आरंभ में भारत में कंपनी की विजय आकस्मिक थी, पर कालांतर में ब्रिटिश प्रशासकों ने योजनाबद्ध तरीके से पूरे भारत को अपने

---

[9] ग्रोवर, बी.एल., अलका मेहता, यशपाल, *आधुनिक भारत का इतिहास,* पृ. xxiii

[10] वही, पृ. xxvi

[11] वही, पृ. xxv

अधीन करने की योजना बनाई और वे इसमें सफल हो गए। इस योजनाबद्ध यात्रा में अंग्रेजों ने भारत के साथ वे सभी प्रयोग किए जो किसी उपनिवेश के साथ कोई साम्राज्यवादी देश करता है। अंग्रेजों ने अपने औपनिवेशिक हितों को साधने के क्रम में भारत की भाषा, शिक्षा व्यवस्था, आधुनिकीकरण, ज्ञान-विज्ञान सभी क्षेत्रों में व्यापक बदलाव किया जो भारत के लोगों को 'सभ्यता का पाठ पढ़ाने' के मुहावरे के साथ आया, ताकि उपनिवेशवादी संरचना का रुख मानवतावादी और भारत के हितैषी के रूप में सिद्ध किया जा सके।

उपनिवेशवादी देशों का तर्क प्रायः यही रहा है कि उन्होंने तथाकथित 'असभ्य' और अविकसित देशों की उन्नति करने और उन्हें 'सभ्य' बनाने के लिए ही उन पर शासन किया और इस अर्थ में उन्होंने एक पुनीत कार्य किया। यह तथ्य न केवल भारत बल्कि पूरे विश्व के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है कि इतिहास के एक दौर में औपनिवेशिक शक्तियों ने एशिया के अधिकांश भू-भाग को जीत लिया था। उनकी स्थिति विजेता की-सी हो गई थी और एशिया के देश स्वयं को पराजित अनुभव करने लगे थे। एशियाई देशों का आत्मविश्वास इतना गिर चुका था कि ये सांस्कृतिक क्षेत्र में भी स्वयं को पिछड़ा महसूस करने लगे थे। जापान हो या भारत, हर देश यूरोपीय देशों के हाथों पराजित होने का मूल कारण अपनी पौराणिक परम्पराओं और वैचारिक पिछड़ेपन को मानने लगे थे। इसके मुक़ाबले औपनिवेशिक देश प्रबोधन की चेतना से सम्पन्न थे जिनका मानना था कि वे भारत जैसे एशियाई देशों में आधुनिक चेतना और ज्ञान-विज्ञान का प्रसार कर रहे हैं। औपनिवेशिक शक्तियों ने यह प्रचारित किया कि एशियाई देशों को सभ्य बनाना उनकी सांस्कृतिक ज़िम्मेदारी है और अपने औपनिवेशिक अभियान को उन्होंने आडंबरपूर्ण मुहावरे में 'गोरों की पीठ पर लदा ऐतिहासिक बोझ' (The White Man's Burden) कहा। इसके लिए औपनिवेशिक लेखन ने सुनियोजित ढंग से उपनिवेशों की संस्कृति और परंपरा को मिथ्या सिद्ध करने का प्रयास किया।

जॉन स्ट्रेची ने कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के अपने एक व्याख्यान में भारत के बारे में टिप्पणी करते हुए कहा था "भारत देश जैसी कोई चीज न तो है और न कभी थी...न तो कोई भारतीय राष्ट्र है और न ही भारत के लोग हैं, जिनके बारे में हम इतना सुनते हैं। यह असंभव है कि पंजाब, बंगाल, मद्रास और पश्चिमोत्तर प्रांत के लोग अपने को एक महान भारतीय

राष्ट्र का अंग मानें।"[12] जे.टी. संडरलैंड के अनुसार में भारत में "अंग्रेजी शासन वटवृक्ष के समान था। एक वटवृक्ष के नीचे थोड़ा सा अथवा कुछ भी नहीं उग सकता। वृक्ष अपने नीचे सभी वनस्पतियों को आच्छादित कर लेता है तथा मार डालता है। केवल वही उद्भाव जी अथवा पनप सकते हैं जो ऊपर से वृक्ष नीचे भेजता है और जो जड़ पकड़ लेते हैं और विकसित हो जाते हैं। अन्य कुछ नहीं।"[13]

उन्नीसवीं सदी में उपनिवेशवाद का स्वरूप

कंपनी राज और आरंभिक ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति को इंगित करते हुए मद्रास रेवेन्यू बोर्ड के तत्कालीन अध्यक्ष जॉन सुलिवन (सन् 1788 से सन् 1855) ने कंपनी राज की कार्यप्रणाली पर टिप्पणी करते हुए कहा था "हमारी प्रणाली एक ऐसे स्पंज के रूप में काम करती है जो गंगा के किनारों से प्रत्येक अच्छी वस्तु ले लेती है फिर टेम्स के किनारे पर निचोड़ देती है।"[14]

भारत में उन्नीसवीं सदी के आरंभ में उपनिवेशवाद के स्वरूप को उपर्युक्त कथन के आलोक में बखूबी समझा जा सकता है। भारत और ब्रिटेन के सन्दर्भ में उपनिवेशवाद आर्थिक शोषण पर आधारित आर्थिक संबंधों की एक व्यवस्था थी। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम और उन्नीसवीं शताब्दी के शुरुआती चरण में भारत में कंपनी की आर्थिक स्थिति में मूलगामी परिवर्तन हुए जिसका कंपनी की प्रशासनिक नीति पर व्यापक प्रभाव देखा जा सकता है। यह व्यापारिक पूंजीवाद से औद्योगिक पूंजीवाद की ओर संक्रमण का दौर था और भारत की आर्थिक संरचना ब्रिटेन में हो रहे आर्थिक बदलावों से परिचालित हो रही थी। ये सभी बदलाव साम्राज्यवादी उद्देश्यों को पूरा करने के लिए किए जा रहे थे।

इस विषय में विपिन चन्द्र का तर्क है, "नए क्षेत्रों में ब्रिटिश सत्ता के विस्तार, नई समस्याओं, नई आवश्यकताओं, नए अनुभवों और नए विचारों के फलस्वरूप उन्नीसवीं सदी में प्रशासन की व्यवस्था में अधिक गंभीर परिवर्तन हुए, मगर इन परिवर्तनों के दौरान साम्राज्यवाद के व्यापक उद्देश्यों को कभी नहीं भुलाया गया।"[15]

"उस समय भारत जिन आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थितियों में फंसा था; उनमें वह नए काम कर ही नहीं सकता था। उसे इस तरह परिवर्तित और रूपांतरित किया जाना था

---

[12] अग्रवाल, पुरुषोत्तम, *विचार का अनंत*, पृ. 24-25

[13] ग्रोवर, बी.एल., अलका मेहता, यशपाल, *आधुनिक भारत का इतिहास,* पृ. xxvii

[14] वही पृ. 441

[15] चन्द्र विपिन, *आधुनिक भारत का इतिहास,* पृ. 94

ताकि वह ब्रितानी अर्थव्यवस्था के विकास में अपनी नई भूमिका निभा सके। उसके परंपरागत, गैर पूंजीवादी आर्थिक ढांचे को बदल दिया जाना था। भारत की ब्रितानी सरकार ने सन् 1813 के बाद यहाँ के प्रशासन, अर्थतंत्र और समाज में जिस तरह के परिवर्तन लाने शुरू किए; उनका उद्देश्य इन्हीं हितों की सिद्धि था।"[16] ब्रिटिश राज की समस्त नीतियों के मूल में भारत के आर्थिक संसाधनों का दोहन करना ही प्रमुख था और कंपनी राज तथा ब्रिटिश राज में प्रशासनिक स्तर पर किए गए सभी परिवर्तन इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किए गए थे। इन सबका परिणाम भारतीयों के पक्ष में भी गया। जेम्स मिल ने उपनिवेशों के बारे में लिखा है यह 'कुलीन उच्च वर्ग के लिए एक विस्तृत बाहरी आरामगाह का तंत्र है'। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में दुनिया भर में कई देश यूरोपियन उपनिवेशवाद के केंद्र बन गए थे। भारत में उपनिवेशवाद का स्वरूप इंग्लैंड में होने वाले आर्थिक परिवर्तनों से प्रभावित होता रहा। इसलिए प्रत्येक चरण में व्यापक परिवर्तन देखे जा सकते हैं।

यूरोप में नए ज्ञान-विज्ञान और प्रबोधन की चेतना के प्रभाव में नवोदित मध्य वर्ग का उदय हुआ था जिसने यूरोप के देशों में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में व्यापक बदलाव किए। इसी के फलस्वरूप ब्रिटेन में एक संस्था अस्तित्व में आई जिसका नाम था- 'गवर्नर्स एंड कंपनी ऑफ मर्चेंटर्स ऑफ लंदन ट्रेडिंग टू दि ईस्ट इंडीज'। यही कंपनी आगे चलकर ईस्ट इंडिया कंपनी कहलाई और इसने भारत पर 250 वर्षों के ब्रिटिश राज का मार्ग प्रशस्त किया। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यूरोपीय देशों में उपनिवेश प्राप्त करने की होड़ लग गई थी। इस कंपनी ने भारत में उपनिवेशवाद की बुनियाद रखने और इसमें वृद्धि करने का काम किया और धीरे-धीरे एक ऐसे तंत्र का निर्माण किया जिसमें भारत एक उपनिवेश बन गया।

इस तंत्र के माध्यम से ही कंपनी ने अपने औपनिवेशिक विचारों, व्यवस्थाओं, बदलावों, युक्तियों और षड्यंत्रों को पूरे भारत में लागू किया जिससे संपूर्ण भारत पर ब्रिटेन का राजनीतिक नियंत्रण स्थापित हुआ। इस उपनिवेशवाद ने भारत की आर्थिक व्यवस्था में कई अंतर्विरोधों को जन्म दिया। जैसे कि अर्थव्यवस्था का पुनरुत्पादन बनाम लूट, बुनकरों का पतन बनाम उन पर एकाधिकार। कार्ल मार्क्स ने भारत में कंपनी राज के बारे में *द ब्रिटिश रूल इन इंडिया* और *द ईस्ट इंडिया कंपनी-इट्स हिस्ट्री एंड रिजल्ट्स* नामक महत्त्वपूर्ण लेखों में कंपनी राज की निर्ममता पर विस्तार से लिखा है।

---

[16] चन्द्र, बिपन, अमलेश त्रिपाठी, बरुण डे, *स्वतंत्रता संग्राम,* पृ. 6

इतिहासकार रजनी पाम दत्त ने अपनी पुस्तक *आज का भारत* में एक महत्त्वपूर्ण लेख के माध्यम से कंपनी के औपनिवेशिक चरित्र का वर्णन किया है। रजनी पाम दत्त ने लिखा है, "अंग्रेजों से पहले जिन शक्तियों ने भारत पर विजय हासिल की थी, उनमें और अंग्रेजों में यही फर्क था कि पहले के विदेशी विजेताओं ने जहाँ भारत के आर्थिक आधार को ज्यों का त्यों रहने दिया और अंत में उसमें घुल-मिल गए, वहाँ ब्रिटिश विजेताओं ने उस आधार को छिन्न-भिन्न कर दिया और वे ऐसी विदेशी शक्ति के रूप में बने रहे जिसमें सत्ता का संचालन बाहर से होता था और भारत से नजराने की वसूली करके बाहर भेजा जाता था...भारत की जनता ने महसूस किया कि उसकी पुरानी दुनिया तो उजड़ चुकी है पर नई दुनिया का कहीं पता नहीं था। इसलिए ब्रिटिश शासन के अधीन भारतीय जनता के दुःख-दर्द के साथ एक खास तरह का विषाद जुड़ गया।"[17] रजनी पाम दत्त का अध्ययन हाउस ऑफ कॉमंस के सदस्यों के भाषणों, समय-समय पर ब्रिटेन द्वारा भेजे गए गवर्नर जनरलों और कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के लिए तैयार किए गए प्रतिवेदनों, कंपनी के प्रशासनिक अधिकारियों की टिप्पणियों तथा अंग्रेज व्यापारियों के लेखन पर आधारित है। ब्रिटेन में औद्योगिक पूंजीवाद की सफलता के पीछे भारत में कंपनी की कठोर औपनिवेशिक नीतियाँ प्रमुख कारक रहीं। "1780-1800 के दौर में अगर औद्योगिक पूंजीवाद 'टेक-ऑफ' (एरिक हॉब्सबाम) करने में समर्थ हो सका तो इसके पीछे भारत में मचाई गई इस विनाशलीला की भूमिका महती रही।"[18]

कार्ल मार्क्स ने इस प्रकार की व्यवस्था को समझने के लिए दो देशों को दो छोर या दो किनारे के रूप में मानने पर ज़ोर दिया और कहा कि उपनिवेशवाद में विजित और विजेता राष्ट्र दो छोर हैं जिसे पूंजी आपस में जोड़े रखने का काम करती है। जब तक पूंजी एक सेतु के रूप में दोनों देशों को आपस में जोड़े रखती है तब तक औपनिवेशिक तंत्र कायम रहता है। कार्ल मार्क्स का कहना है कि एक साम्राज्यवादी देश किसी उपनिवेश में जो कुछ भी उत्पादन करता है उसे वह अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उत्पादित करता है और मुनाफा कमाने के लिए अधिशेष को बाज़ारों में विक्रय करता है। मार्क्स के अनुसार उपनिवेशवादी देश अधिशेष को अपने हित में इस्तेमाल करता है और मुनाफा कमाने की इस पूरी प्रक्रिया में जैसे-जैसे परिवर्तन होता है, औपनिवेशिक नीतियों में भी परिवर्तन होता है।

---

[17] दत्त, रजनी पाम, *आज का भारत,* पृ. सं. 111

[18] शीतांशु, *कंपनी राज और हिन्दी*, पृ. सं. 20

कार्ल मार्क्स की उपर्युक्त टिप्पणी भारत और ब्रिटेन के सन्दर्भ में भी लागू होती है और ब्रिटेन में हो रहे आर्थिक परिवर्तनों के आधार पर भारत में उपनिवेशवाद को निम्न तीन चरणों में बांटकर देखा जा सकता है : वाणिज्यिक उपनिवेशवाद (सन् 1757-1813), औद्योगिक उपनिवेशवाद (सन् 1813-1860), और पूंजीवादी उपनिवेशवाद (सन् 1860 के बाद)।

ब्रिटेन में पूंजीवाद और भारत में उपनिवेशवाद आधुनिक युग की दो घटनाएँ हैं और इन दोनों घटनाओं में अन्योन्याश्रित संबंध है। जब यूरोप में वाणिज्यवाद आया तब भारत में वाणिज्यिक उपनिवेशवाद आया और ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति घटित होने के बाद ही भारत में औद्योगिक उपनिवेशवाद का दौर आया। आगे चलकर जब ब्रिटेन में वित्तीय क्रान्ति हुई तब भारत में वित्तीय पूंजीवाद आया। भारत में उपनिवेशवाद के तीनों चरणों में जो भी संरचनागत बदलाव हुए वे ब्रिटेन ने इसलिए किए क्योंकि उसे भारत में अपने औपनिवेशिक आर्थिक मिशन को पूरा करना था जो उसकी अपनी आर्थिक अनिवार्यताओं की उपज थे। जब ब्रिटेन में वाणिज्यवाद का दौर आया तब उसे दुनियाभर के बाज़ारों पर एकाधिकार करने की आवश्यकता महसूस हुई। भारत के सन्दर्भ में इसे देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि जब ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी भारत आई तब एक कंपनी के रूप में काम करते हुए भारत के बाजार पर एकाधिकार स्थापित करना उसके लिए आसान नहीं था। इसके लिए कंपनी को भारत के शासकों पर निर्भर रहना पड़ता और वह अपने औपनिवेशिक मंसूबों में कामयाब नहीं हो पाती। इसीलिए कंपनी ने भारत में लड़ाइयाँ लड़ीं और स्वयं को एक राजनीतिक शक्ति के रूप में स्थापित किया। इसे ही इतिहास में 'कंपनी राज' के नाम से जाना जाता है। भारत की एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति के रूप में कंपनी ने अपना विस्तार किया और धीरे-धीरे भारत के प्रमुख वाणिज्यिक प्रतिष्ठानों पर कब्जा जमाना शुरू कर दिया। "ज्यों-ज्यों कंपनी ने अन्य देश जीते, त्यों-त्यों अंग्रेजी राष्ट्र की अर्थव्यवस्था में परिवर्तन आया और धन लोलुपता बढ़ी। उनका प्रशासनिक ढांचा भी बदलता गया और उन्होंने इसमें नए-नए प्रयोग और परिवर्तन किए।"[19]

औद्योगिक क्रान्ति के बाद ब्रिटेन की आर्थिक नीति कच्चे माल के संसाधनों पर अधिकार करने और ब्रिटेन में बने उत्पादों को अपने उपनिवेशों के बाज़ारों में बेचकर अधिक से अधिक मुनाफा कमाने की थी। यह तभी संभव था जब भारत के उद्योग धंधों को नष्ट कर दिया जाए। "परंतु औद्योगिक क्रान्ति के पनपने के उपरांत 19वीं शताब्दी के दूसरे चतुर्थांश में अधिक बल बंदमण्डियों (Closed markets) पर दिया जाने लगा ताकि औद्योगिक वस्तुएँ

---

[19] ग्रोवर, बी.एल., अलका मेहता, यशपाल, *आधुनिक भारत का इतिहास*, पृ. 165

मनमाने भाव पर बिना किसी प्रतिस्पर्धा के बेची जा सकें। समस्त प्रशासन और नीतियाँ इसी दिशा में केन्द्रित की गईं। इसका एक परिणाम भारतीय हस्तशिल्प का विनाश तथा भारतीय मुद्रा का बहिर्गमन था। फिर अंग्रेजों ने भारतीय कृषि का ग्रामीणीकरण किया और अंग्रेजी औद्योगिक उत्पादन के लिए भारत एक मुख्य कच्चे माल का उत्पादक बन गया। भारतीय अर्थव्यवस्था पूर्ण रूप से अंग्रेजी आर्थिक हितों के अधीन हो गई।"[20] कंपनी राज की आरंभिक औपनिवेशिक नीतियों का हस्तशिल्प और ग्रामीण अर्थव्यवस्था के आर्थिक पक्ष पर नकारात्मक प्रभाव तो पड़ा पर भारत की तत्कालीन बौद्धिक और सांस्कृतिक रचनात्मक परिवेश पर इसका वैसा नकारात्मक प्रभाव अभी नहीं पड़ा था, जो बाद में देखा गया।

के. एम. पणिक्कर लिखते हैं, "अट्ठारहवीं सदी के समाज के संबंध में सामान्यतः स्वीकृत कतिपय मान्यताओं पर आपत्ति करने के पीछे मंशा प्राक् औपनिवेशिक भारत को आदर्श रूप में प्रस्तुत करने या यह दिखलाने की नहीं रही है कि जब औपनिवेशिक हस्तक्षेप हुआ उस समय भारत संक्रमण के द्वार पर खड़ा था। हमारा आशय यह है कि मुगल साम्राज्यीय व्यवस्था के विघटित होने और आर्थिक जीवन में व्यतिरेक उत्पन्न होने के बावजूद बौद्धिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में गतिशीलता और ऊर्जा कुंठित नहीं हुई। रचनात्मक सामर्थ्य में असली व्यवधान भारत में अंग्रेजों के कारनामे के रूप में उत्पन्न हुआ।"[21]

औद्योगिक उत्पादन में आई तेजी के फलस्वरूप धीरे-धीरे ब्रिटेन के लिए यह अनिवार्य हो गया कि वह भारत में पश्चिमी शिक्षा पद्धति को लागू करे और भारत की सांस्कृतिक मनोवृत्ति को अपने अनुकूल बनाए, ताकि यहाँ के लोगों का मनोविज्ञान बदल जाए और लोग विदेशी वस्तुओं के प्रति आकर्षित हो सकें। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ब्रिटिश प्रशासक और विद्वान अपनी संस्कृति को भारत की संस्कृति के मुक़ाबले श्रेष्ठ बताने लगे। उन्होंने भारत की संस्कृति को पौराणिक और पिछड़ी इसीलिए कहा, ताकि इस देश का नवोदित मध्यम वर्ग विदेशी संस्कृति और सभ्यता की ओर आकर्षित होकर उसका अनुकरण करे। इसी उद्देश्य को साधने के क्रम में सुधार और परिवर्तन का एक लंबा दौर शुरू हुआ जिसका दीर्घकालिक उद्देश्य ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के अनुकूल भारत में एक 'सामाजिक मनोविज्ञान' तैयार करना था।

वाणिज्यिक उपनिवेशवाद

---

[20] वही, पृ. 165

[21] पणिक्कर, के. एम., *औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष,* पृ. 44

यूरोप में वाणिज्यिक क्रान्ति के साथ भारत में वाणिज्यिक उपनिवेशवाद का आगमन हुआ था। वाणिज्यवाद यूरोप में मध्ययुगीन जड़ता से आधुनिकता की ओर प्रस्थान का आग्रह लेकर आया था, जिसमें कुछ इतिहासकार यूरोपीय राष्ट्रों की राष्ट्रीय एकता के बीज ढूँढने का प्रयास भी करते हैं। इस दौर के आरंभ में इस तरह के विचार और दर्शन प्रतिपादित किए गए जिनसे भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति और देश के आर्थिक उत्थान को बल मिला। इसके मूल में जो चिंतन पद्धति काम कर रही थी वह थी- धर्म निरपेक्षता और वैज्ञानिक चिंतन। इसी दार्शनिक आधार पर प्रकृति पर विजय के नारे के साथ यूरोप के लोग दुनिया की खोज पर निकल पड़े थे। भारत इसी यात्रा का एक पड़ाव था।

सन् 1757 में भारत में प्लासी की लड़ाई में कंपनी की विजय के साथ ही वाणिज्यिक उपनिवेशवाद की शुरुआत मानी जाती है। प्लासी की लड़ाई राजनीतिक युद्ध से अधिक व्यापार पर एकाधिकार के लिए महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। प्लासी के युद्ध में विजय के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय व्यापार को पूरी तरह से अपने नियंत्रण में ले लिया। इस समय भारत का सामाजिक ढांचा स्थानीय सामंतवाद से ग्रस्त था और ब्रिटेन पूरी दुनिया में कच्चे माल की प्राप्ति के लिए व्यापारिक एकाधिकार की होड़ में अन्य देशों से आगे निकलने के लिए आतुर था। "वणिकवाद...वास्तव में आक्रामक राष्ट्रवाद का आर्थिक प्रतिकार था। इसका मूलभूत आधार यह था कि समस्त आर्थिक कार्यविधि को राष्ट्र के हित में तथा शक्तिशाली बनाने के लिए नियमित किया जाना चाहिए।"[22]

वाणिज्यिक उपनिवेशवाद के पहले चरण में ईस्ट इंडिया कंपनी का मुख्य उद्देश्य 'भारत की लूट' था। औपनिवेशिक नीतियों से भारत के उद्योग-धंधों का ह्रास हुआ। इस चरण में ब्रिटेन ने भारत के व्यापार पर एकाधिकार की लड़ाई में अन्य यूरोपीय कंपनियों को पीछे छोड़ दिया। कंपनी की कठोर आर्थिक नीतियों के कारण ही के.एम. पणिक्कर ने सन् 1765 से सन् 1772 तक के काल को 'डाकू राज्य' की संज्ञा दी है। वाणिज्यिक उपनिवेशवाद के दौर पर टिप्पणी करते हुए एक अंग्रेज इतिहासकार ने लिखा है, "अब बंगाल में खुला तथा बेशर्म लूट का काल आरंभ हुआ।"[23]

पहले ब्रिटेन सोने या चांदी के बदले भारत से वस्तुएँ खरीदता था परंतु, अब वह कंपनी के माध्यम से यहीं से लूटे हुए धन से यहाँ की वस्तुएँ खरीदने लगा। सन् 1757 के बाद भारत से

---

[22] ग्रोवर, बी.एल., अलका मेहता, यशपाल, *आधुनिक भारत का इतिहास,* पृ. 443

[23] वही, पृ. 444

निर्यात किए जाने वाले माल के बदले भारत को कुछ भी वापस नहीं किया गया। भारत के आर्थिक अधिशेष को भू-बंदोबस्त व्यवस्थाओं द्वारा, कंपनी के कर्मचारियों के निजी व्यापार द्वारा, भारत की वस्तुओं के निर्यात से प्राप्त मुनाफे के द्वारा, देशी शासकों से प्राप्त उपहारों द्वारा निरंतर ब्रिटेन भेजा गया। इस दौर में भारत की प्रत्येक पुरानी व्यवस्था के स्थान पर नई व्यवस्था थोपी गई जिसका एकमात्र उद्देश्य पूंजी का संचय करना और इसे ब्रिटेन भेजना हो गया था। जी. सैंडरसन ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है 'लंदन के व्यापारी भारत में भाड़े के मुगल शासक बन गए थे'।

उपनिवेशवाद के इस चरण में ब्रिटेन और कंपनी राज की आगामी नीति के संकेत साफ दिख जाते हैं कि किस प्रकार कंपनी सुनियोजित तरीके भारत में अपने पाँव पसार रही थी, "अपना राजस्व बढ़ाने के संबंध में भी हमें उतना ही चिन्तित रहना चाहिए, जितना कि व्यापार के संबंध में। बीसियों दुर्घटनाएँ हमारे व्यापार में बाधक हो सकती हैं; पर यही वह साधन है जो हमारी शक्ति बनाए रख सकता है। यही वह साधन है, जो हमें निश्चित रूप से भारत में एक राष्ट्र का रूप देगा। इसके बिना तो हम महामहिम के शाही शासन द्वारा संगठित बहुत से अधिकृत व्यापारी मात्र समझे जाएंगे, उन्हीं जगहों पर व्यापार करने योग्य समझे जाएंगे, जहाँ हमारा व्यापार अधिकार प्राप्त किसी भी व्यक्ति की दृष्टि में देश के लिए अहितकर न हो।"[24]

औद्योगिक उपनिवेशवाद

अठारहवीं सदी के अंतिम वर्षों में ब्रिटेन में विज्ञान और तकनीक के क्षेत्र में तीव्र विकास हुआ। इन सबसे ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति में तेजी आई। भारत से लूटी गई संपत्ति ने ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। अब ब्रिटेन दुनिया का सबसे बड़ा आर्थिक उत्पादन और निर्यात करने वाला देश बन गया था। उन्नीसवीं शताब्दी के शुरुआती वर्षों तक आते-आते ब्रिटेन में हुए परिवर्तनों ने वाणिज्यिक पूंजीवाद को मुक्त व्यापार पूंजीवाद में बदल दिया और लैसेज फेयर का सिद्धान्त सामने आया, जो वाणिज्य और व्यापार के क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप का निषेध करता था।

---

[24] ताराचन्द, *भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास,* भाग-1, पृ. 216

ब्रिटेन में होने वाले इन परिवर्तनों का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। इसके फलस्वरूप सन् 1813 में चार्टर अधिनियम द्वारा कंपनी के व्यापारिक एकाधिकार को पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया गया। अब भारत का बाजार ब्रिटिश संसद से परिचालित होने लगा। इसका सबसे बड़ा प्रभाव भारत से होने वाले निर्यात पर पड़ा। ब्रिटेन भारत को सिर्फ कच्चे माल और खाद्यान्न के निर्यातक और तैयार माल के आयातक के रूप में देखना चाहता था। भारत जो वर्षों से पूरी दुनिया को कपड़े का निर्यात करता था, अब ब्रिटेन से सूती कपड़े का एक चौथाई आयात करने लगा। "कार्ल मार्क्स ने इस परिवर्तनशील व्यवस्था पर की गई अपनी टिप्पणी में कहा कि, वह अंग्रेज घुसपैठिया ही था जिसने भारतीय खड्डु (लूम) को तोड़ दिया और चरखे को नष्ट कर दिया। अंग्रेजों ने भारतीय सूती कपड़े की मातृभूमि को ही सूती कपड़े से भर दिया।...और अंत में देश अर्किंचन हो गया।"[25] दूसरे चरण में मुक्त व्यापार की नीति केवल ब्रिटिश व्यापारियों के लिए थी, भारतीयों के लिए नहीं।

रहीस सिंह ने लिखा है, "संक्षेप में कहें तो उपनिवेशवाद के प्रथम चरण में जहां राजनीतिक और आर्थिक ढांचे में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया वहीं दूसरे चरण में इस क्षेत्र में परिवर्तन अपरिहार्य हो गए ताकि ब्रिटिश उपनिवेश के रूप में भारत अपनी नई भूमिका निभा सके। इसके लिए न केवल (सन् 1834 में कानून बनाकर) अंग्रेजों के आने का रास्ता साफ किया गया बल्कि प्रशासन को और अधिक व्यापक बनाते हुए, जमींदारी, रैय्यतवारी व महालवारी व्यवस्थाओं के माध्यम से अधिक से अधिक लगान उगाहने के तरीकों में भी परिवर्तन किया गया। राज्य के कानूनी ढांचे में भी परिवर्तन की आवश्यकता महसूस की गयी ताकि व्यापारवादी पूंजीवादी संबंधों के हितों की रक्षा की जा सके। इसमें आयात और निर्यात की आर्थिक सौदेबाजी को कारगर बनाने के लिए समझौते की पवित्रता (Sanctity of Contract) को मौलिक कानून का स्थान दे दिया गया था।"[26]

पूंजीवादी उपनिवेशवाद

तीसरे चरण अर्थात् पूंजीवादी उपनिवेशवाद को प्रथम दो उपनिवेशवादी चरणों की तार्किक परिणति कहा जा सकता है। इस दौर में औपनिवेशिक शोषण की प्रक्रिया तो पहले दो चरणों की ही तरह बदस्तूर जारी रही, पर इसके स्वरूप में परिवर्तन आ गया। इसके मूल में कंपनी राज की औपनिवेशिक नीतियों से उपजे असंतोष के कारण हुई सन् 1857 की क्रान्ति थी। सन्

---

[25] सिंह, रहीस, *आधुनिक भारत: भारत में ब्रिटिश राज का विस्तार (1707-1857),* पृ. 68

[26] वही, पृ. 70-71

1858 में भारत के शासन से ईस्ट इंडिया कंपनी को हटा दिया गया और अब भारतीय उपनिवेश प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश शासन के अधीन आ गया। पूंजीवादी उपनिवेशवाद के दौर में ब्रिटिश उपनिवेशवादी प्रशासकों ने भारत में प्रतिक्रियावादी और संकीर्ण शक्तियों से समझौता कर लिया था ताकि लंबे समय तक अपने शासन को बनाए रख सकें। इस दौर में भारत में ब्रिटिश पूंजी के व्यापक निवेश की शुरुआत हुई। हालांकि, इस पूंजी की मात्रा और प्रकृति को लेकर इतिहासकारों में आम राय नहीं है।

धन निष्कासन सिद्धान्त

'धन निष्कासन या बहिर्गमन का सिद्धान्त' सबसे पहले दादा भाई नौरोजी ने सन् 1867 में दिया था। उन्होंने अपने शोध *पावर्टी एंड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया* में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। बाद में, भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के अन्य नेताओं ने भी इस पर अपने विचार व्यक्त किए। धन निष्कासन का तात्पर्य भारत से इंग्लैंड की ओर धन के अविरल प्रवाह से लिया जाता है, जिसके बदले भारत को पर्याप्त आर्थिक, व्यापारिक अथवा भौतिक फल नहीं मिला। धन के निकास के कारण भारत में पूंजी का संचय नहीं हो सका और देश का औद्योगिक विकास जिस अनुपात में होना चाहिए था, नहीं हुआ। धन निकासी की मात्रा पर आर्थिक इतिहासकारों ने अलग-अलग मत दिए हैं, परंतु इस बात पर सभी विद्वानों में एक राय है कि धन की यह मात्रा बहुत ज्यादा थी, जो भारत के आर्थिक भविष्य के लिए बेहद निर्णायक सिद्ध हो सकती थी।

दादा भाई नौरोजी का कहना था कि ब्रिटेन भारत में शासन की कीमत पर भारत की संपदा को छीन रहा है। उन्होंने धन के बहिर्गमन को 'अनिष्टों का अनिष्ट' (Evil of all evils) कहते हुए इसे भारत की गरीबी का सबसे बड़ा कारण कहा। आर.सी. दत्त ने अपने लेखन में किसी भारतीय कवि की एक उपमा का उल्लेख किया कि, "राजा का अपनी जनता से अधिक कर ग्रहण करना सूरज द्वारा पृथ्वी से उस पानी को प्राप्त करने के समान होता है जो वह वर्षा के रूप में पुनः भूमि को देता है। परंतु यहां तो सूरज पानी भारत से ग्रहण कर वर्षा केवल इंग्लैंड को ही देता है।"[27] आजादी की लड़ाई के दौरान धन बहिर्गमन सिद्धान्त की अखिल भारतीय स्तर पर व्यापक चर्चा हुई और आजादी के बाद भी कई इतिहासकारों ने इस पर नए-नए

[27] ग्रोवर, बी.एल., अलका मेहता, यशपाल, *आधुनिक भारत का इतिहास*, पृ. 447

शोधों के माध्यम से औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था के अधीन भारत की आर्थिक स्थिति पर अपने विचार व्यक्त किए हैं।

राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने 'धन निष्कासन' को भारत के अल्प विकास एवं औद्योगिक, सांस्कृतिक, पिछड़ेपन का एक प्रमुख कारक माना है। इनके अनुसार ब्रिटिश सरकार की औपनिवेशिक आर्थिक नीतियां ही भारत के सम्यक् औद्योगीकरण न हो पाने का प्रत्यक्ष कारण हैं। इनका मत है कि भारत में निर्धनता कोई दैवी प्रकोप नहीं है और न ही इसकी कोई ऐतिहासिक विरासत है। जिन सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक प्रक्रियाओं से ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति हुई, वहां के सांस्कृतिक उत्थान को एक नई दिशा मिली, वही भारत में अल्प विकास, निर्धनता, भुखमरी और व्यापार तथा उद्योगों के विनाश का कारण बनीं। धन बहिर्गमन के सिद्धान्त का प्रभाव भारतीय भाषाओं के साहित्य पर व्यापक रूप से पड़ा। हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग के उन्नायक भारतेन्दु हरिश्चंद्र इस विचार से अत्यंत प्रभावित थे, उन्होंने *भारत दुर्दशा* के पहले अंक में लिखा है, 'अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी, पै धन बिदेश चलि जात इहै अति ख़्वारी'।

आत्मसातीकरण और अनुवाद

अपनी पुस्तक *अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य* में प्रो. देवशंकर नवीन लिखते हैं, "आत्मसातीकरण शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'एप्रोप्रिएशन' होगा, अर्थात् मूल-पाठ की आत्मा सुरक्षित रखते हुए ऐसे नए पाठ का पुनर्सृजन जिसमें काल-परिवेश और ग्राही-समाज हेतु लक्षित-पाठ की उपादेयता का विशेष ध्यान रखा जाए।"[28] इस अर्थ में आत्मसातीकरण को देश-काल और परिवेश के अनुसार लक्ष्य पाठक वर्ग के अनुकूल किसी पाठ की पुनर्प्रस्तुति कहा जाता सकता है, जिसमें पाठ का मूल कथ्य सुरक्षित रहे।

भारतीय साहित्य परंपरा में मूल तत्त्व के रूप में सदियों से विद्यमान 'आत्मसातीकरण' के स्वरूप और महत्त्व पर विस्तार से लिखते हुए प्रो. देवशंकर नवीन उल्लेख करते हैं, "भारत में प्रदत्त पाठ के अनुकथन, अनुवचन, पुनर्कथन, पुनर्रचना, व्याख्या, विश्लेषण, अन्वय, आत्मसातीकरण, रूपांतरण, अनुकूलन, भाष्य, टीका विवेचन...सारे रूपों को अनुवाद का ही

---

[28] नवीन, देवशंकर, *अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य,* पृ. 118

समानार्थी माना गया है। इस आलोक में हिन्दी के भक्ति-साहित्य के सारे पाठ आत्मसातीकरण, अनुकूलन, पुनर्कथन अथवा पुनर्रचना के रूप में पौराणिक ग्रंथों के अनुवाद ही हैं। सूरदास एवं तुलसीदास की रचना समेत रामकाव्य एवं कृष्णकाव्य की समस्त कृतियाँ आत्मसातीकरण के रूप में अनुवाद उद्यम ही हैं। अष्टछाप के सारे भक्त कवियों ने पौराणिक कृष्ण की लीलाओं का आत्मसातीकरण करते हुए अपने पद रचे हैं।...हिन्दी सहित सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य में इतिहास, पुराण, रामायण, महाभारत एवं लोकगाथाओं के अनगिनत आत्मसातीकृत ग्रंथ उपलब्ध हैं और सारे के सारे आज अपनी-अपनी भाषा के प्रतिष्ठित एवं मौलिक ग्रंथ माने जाते हैं।"[29] उद्धरण पर चर्चा करते हुए जिस एक बात पर ध्यान जाता है, वह है आत्मसातीकृत ग्रन्थों का अपनी-अपनी भाषा में मौलिक ग्रन्थों के रूप में प्रतिष्ठित होना। अर्थात् आत्मसातीकरण किसी रचना का अनुवाद भर नहीं है, यह लेखक की विचारधारा, उद्देश्य, काल-परिवेश और सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों में एक विशिष्ट प्रकार की नवीन निर्मिति है, जो किसी रचना को ऐसा कलेवर प्रदान करता है कि रचना मौलिक हो उठती है।

प्रो. देवशंकर नवीन के अनुसार, "आत्मसातीकरण (एप्रोप्रिएशन) अनुवाद की एक बुलंद धारणा है, जो भारत में सदा से उपलब्ध रही है। यही वह पद्धति है, जो अनुवादक को शब्दानुवाद से बचने की प्रेरणा देती है, और अनुवादक स्रोत-भाषा के पाठ को लोकोपयोगी बनाकर लक्ष्य-भाषा में पेश करता है। प्राचीन रोम के प्रसिद्ध अनुवाद-चिंतक मार्कुस तूलिउस सिसेरो (ई.पू. 106 से ई.पू. 43) एवं होरेशियस भी शाब्दिक अनुवाद को भाषा की दरिद्रता और अनुवादक की अक्षमता समझते थे। उनकी राय में लक्ष्य भाषा के नियमों पर चलना, और पाठकों की अपेक्षाओं का ध्यान रखना एक अनुवादक की सबसे बड़ी निष्ठा थी। भारत के प्राचीन अनुवाद उद्यमों में तो यह है ही, हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं का लगभग मध्ययुगीन साहित्य ऐतिहासिक-पौराणिक ग्रंथों के ऐसे आत्मसातीकरण का बेहतरीन नमूना है।"[30]

आत्मसातीकरण की अवधारणा न केवल भारतीय साहित्य बल्कि दुनियाभर के साहित्य में हजारों साल पहले से विद्यमान रही है। इस अर्थ में दुनिया की प्रत्येक भाषा में लिखा जाने

---

[29] वही पृ. 118

[30] वही, पृ. 15

वाला साहित्य किसी न किसी रूप में इससे प्रभावित है। साहित्यिक परम्पराएँ इसी आत्मसातीकरण के कारण जीवंत रहती हैं, फलती फूलती हैं, आगे बढ़ती हैं, और तथाकथित नवीन साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी कहीं न कहीं आत्मसातीकरण का सहारा लेकर ही आगे बढ़ती हैं। "आत्मसातीकरण की शैली पर ध्यान दें तो तुलसीदास ने स्वयं लिखा है - नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद। अर्थात् *रामचरितमानस* की रचना में उन्होंने उस काल तक उपलब्ध विविध ग्रंथों से प्राप्त ज्ञान का सहारा लिया है। इस क्रम में उन्होंने कभी शब्दशः अनुवाद किया, कभी भावानुवाद किया, कभी कुछ छोड़ा, कभी कुछ जोड़ा, अर्थात् अनुवाद के सारे विधान अपनाए। असंख्य उदाहरणों में से एक उदाहरण *महाभारत* की पंक्ति *'यदा यदा ही धर्मस्य ग्लानिर्भवति'* का सीधा अनुवाद *रामचरितमानस* में *'जब-जब होहिं धर्म की हानि'* है। इसी तरह चाणक्य नीति के श्लोक *'येषां न विद्या न तपो न दानं, ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः/ ते मर्त्यलोके भुवि भारभूताः मनुष्यरूपेण मृगाश्चरंति'* का सीधा अनुवाद रहीम का दोहा *'रहिमन विद्या बुद्धि नहिं, नहीं धरम जस दान/ भू पर जनम वृथा धरै, पसु बिन पूछ विषान'* है।"[31]

आत्मसातीकरण की प्रक्रिया साहित्येतिहास के सभी कालखण्डों में अपनाई गई है। *रामचरितमानस* में तुलसीदास की पंक्ति 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद' उनकी स्वीकारोक्ति ही है कि वे इस ग्रंथ की रचना के लिए पहले से प्रख्यात रामकथा के विविध प्रसंगों की ही पुनर्प्रस्तुति करने जा रहे हैं। आत्मसातीकरण के रूप में अनुवाद का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है, जिसकी परिधि में आने से शायद ही कोई कृति बचे।

इतिहास के एक दौर में साम्राज्यवादी शक्तियों ने अनुवाद और आत्मसातीकरण के इस पुनीत कार्य का अपनी निहित औपनिवेशिक नीतियों के कारण गलत उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस्तेमाल किया। "असल में भारतीय साहित्य के प्रारंभिक दौर से लेकर मुगल-साम्राज्य के अधोकाल तक भारत में अनुवाद-कर्म एक पुनीत कार्य माना जाता था। वस्तु, विचार, ज्ञान, धर्म, मत आदि के विनिमय का आधार अनुवाद था। सभ्यता-संस्कृति के विकास हेतु एक भाषा के पाठ का दूसरी भाषा में अनुवाद होता था। लक्षित पाठक-समाज में सभ्यता एवं संस्कृति का विस्तार-परिष्कार भी होता था। शासन- विधान में भी इसकी अपरिहार्यता

---

[31] वही, पृ. 120

चाणक्य, चंद्रगुप्त, अशोक, अकबर, शाहजहां आदि के काल में साबित हो चुकी थी। पर उस दौर तक अनुवाद की धारणा बहुत पवित्र होती थी। ब्रिटिश हुकूमत के दौर में आकर इसमें कलुष का प्रवेश हुआ। फिरंगियों के शासकीय सलाहकारों ने उन्हें बताया कि ऊंचे मनोबल के धनी भारतीय नागरिकों को हीन साबित किए बगैर शासित बनाना असंभव है। सर्वप्रथम उसका मनोबल तोड़ कर उसे हीन साबित करो। इस प्रयास में उसने भारत के श्रेष्ठ सांस्कृतिक ग्रंथों के अनुवाद करवाए और हमारी ही संस्कृति के विकृत अनुवाद के हवाले से हमें हीन साबित करने लगे।"[32] भारत के एक विशेष कालखण्ड में साम्राज्यवादी शक्तियों ने आत्मसातीकरण को एक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया, और भारत की जनता को सांस्कृतिक रूप से निम्न साबित करने के लिए प्राचीन ग्रन्थों का विकृत अनुवाद करवाया।

आत्मसातीकरण, अनुवाद और उपनिवेशवाद के अंतःसंबंध

अठारहवीं सदी का ब्रिटेन औद्योगिक क्रान्ति के दौर से गुजर रहा था और औद्योगिक क्रान्ति की जरूरतों को पूरा करने के लिए भारत के बाजार पर ब्रिटिश वर्चस्व कायम करना एवं इस देश के संसाधनों को ब्रिटेन के हित में उपयोग करना ब्रिटेन की एक ऐतिहासिक आवश्यकता थी। औपनिवेशनिक नीति के तहत आर्थिक शोषण के साथ ही शासकीय सलाहकारों की मंशा भारत को सांस्कृतिक रूप से गुलाम बनाना था ताकि औपनिवेशिक शासन को वैध ठहराए जा सके।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनुवाद को हथियार के रूप में प्रयोग किया गया और भारत के श्रेष्ठ सांस्कृतिक ग्रन्थों के दूषित अनुवाद करवाए गए। उपनिवेशवादी शासन व्यवस्था में भौतिक और वैचारिक व्यवहारों में बड़ा गहरा संबंध रहा। प्रो. मैनेजर पाण्डेय अपने लेख आचार्य *रामचन्द्र शुक्ल और विकासवाद* में लिखते हैं, "भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना और प्रसार के साथ ही उपनिवेशवाद ने भारतीयों की 'चित विजय' या दिमागी गुलामी का जो अभियान आरंभ किया था उसका पहला कदम था भारतीय साहित्य का अनुवाद करना। अंग्रेज बुद्धिजीवियों ने कानून, दर्शन, इतिहास और साहित्य के अनुवाद और व्याख्या का बड़े स्तर पर प्रयोग किया था। वे अनुवाद के माध्यम से भारत के आत्मबोध और जगत बोध को, उनकी अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों और रचनाओं को अपनी दृष्टि, भावना तथा समझ के अनुकूल बना रहे थे। इस तरह एक औपनिवेशिक विमर्श का निर्माण हो रहा था जो

---

[32] वही, पृ. 119

उपनिवेशवाद द्वारा भारत के आत्मसातीकरण का प्रमुख साधन था।"[33] भारत में उपनिवेशवादी शासन की स्थापना और प्रसार के लिए भारत के 'आत्मबोध' और 'जगतबोध' को अपने अनुकूल बनाकर भारत का आत्मसातीकरण किया गया, और एक औपनिवेशिक विमर्श का निर्माण किया गया। आत्मसातीकरण की इस प्रक्रिया में अंग्रेज बुद्धिजीवियों द्वारा भारत के कानून, दर्शन, इतिहास, धर्म और संस्कृति का बड़े स्तर पर प्रयोग किया गया।

प्रो. मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, "उपनिवेशवादियों ने अनुवाद के माध्यम से समाज के चिंतन और लेखन की जो पुनः प्रस्तुति की उसमें उनकी अपनी विचारधारा और राजनीति भी निहित थी।"[34] अंग्रेजों ने अपनी राजनीति और विचारधारा के अनुसार अनुवाद किया और भारतीय इतिहास और समाज की पुनर्प्रस्तुति की। विलियम जोन्स भारतीय इतिहास और साहित्य के प्रथम महत्त्वपूर्ण अनुवादक थे। निश्चित रूप विलियम जोन्स ने भारतीय साहित्य और इतिहास के कई विस्मृत पन्नों को खोलने का काम किया, परंतु अंततः इनकी दृष्टि भारत में साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी संरचनाओं को और मजबूत करना ही था। जैसा कि "उन्होंने अपने फारसी व्याकरण की भूमिका में लिखा था कि इससे हमारे ज्ञान का जितना विस्तार होगा उतना ही साम्राज्य का भी"।[35] अर्थात् अनुवाद कर्म के इस उद्योग के पीछे विलियम जोन्स की मंशा ज्ञान के विस्तार के साथ-साथ ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार की भी थी जिसे उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है।

"तेजस्विनी निरंजना ने अनुवाद के संबंध में विलियम जोन्स के आग्रहों पर लिखा है कि उनके अनुसार भारत के लोग अपनी संस्कृति और कानून की प्रामाणिक और विश्वसनीय व्याख्या नहीं कर सकते। वे स्वयं को भारतीय कानूनों का निर्माता सिद्ध करना चाहते थे। साथ ही वे भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता भी बनना चाह रहे थे।"[36] इस प्रकार विलियम जोन्स सांस्कृतिक साधनों के माध्यम से औपनिवेशिक शासन के विस्तार का काम कर रहे थे। साम्राज्यवादी विचारधारा को मजबूत करने के लिए अनुवाद और आत्मसातीकरण एक प्रमुख सांस्कृतिक साधन था।

ब्रिटिश प्राच्यवाद में प्रतिबिम्बित हिन्दुस्तान

---

[33] पाण्डेय, मैनेजर, *आलोचना में सहमति और असहमति,* पृ. 111

[34] वही, पृ. 112

[35] वही, पृ. 113

[36] वही, पृ. 112

'प्राच्यवाद' की अवधारणा में 'प्राच्य' शब्द का अभिप्राय यूरोप महाद्वीप के 'पूरब' में स्थित विशाल भूभाग से लिया जाता है। यूरोपीय विद्वानों द्वारा इस विस्तृत भूभाग की भाषा और संस्कृतियों का अध्ययन 'प्राच्यवाद' कहा जाता था। पूरब में स्थित देशों के इतिहास, भाषा, संस्कृति, धर्म, कानून, भूगोल, दर्शन, संगीत, कला और रीति-रिवाजों पर आधारित यह अध्ययन उपनिवेशवाद के आगमन से पहले से होता रहा है, और उपनिवेशवादी शासन व्यवस्था की स्थापना और विकास के बाद जब 'पश्चिम' और 'पूरब' के बीच आपसी संपर्क एवं आवागमन बढ़ा तब प्राच्यवादी अध्ययन के नए-नए आयाम खुलने लगे। आरंभ में 'पश्चिम' का अर्थ यूरोप से ही लिया जाता था।

प्राच्यवाद की अवधारणा

एडवर्ड सईद की कृति *ओरिएंटलिज्म: वेस्टर्न कन्सेप्शन्स ऑफ द ओरिएंट* (सन् 1978) के माध्यम से प्राच्यवाद सर्वप्रथम एक विमर्श के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। एडवर्ड सईद का मत है, "पूरब पश्चिम के लिए 'अन्य' की छवि का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत था और पूरब, विरोधी छवि, विचार, व्यक्तित्व और अनुभव के रूप में पश्चिम का स्वयं को परिभाषित करने का माध्यम रहा है। इस तरह पूरब यूरोप की भौतिक सभ्यता और संस्कृति का आन्तरिक हिस्सा रहा है। प्राच्यवाद इस हिस्से को एक सांस्कृतिक, यहाँ तक कि विचारधारात्मक विमर्श के रूप में सहयोगी संस्थानों, शब्दावलियों, अध्येताओं, छवियों, नीतियों यहाँ तक कि औपनिवेशिक प्रक्रियाओं और नौकरशाही के माध्यम से अभिव्यक्त और प्रतिनिधिकरण करता है।"[37]

इस पुस्तक में एडवर्ड सईद ने विस्तारपूर्वक यह दिखाया कि कैसे पश्चिम ने स्वयं के अनुकूल मान्यताओं के आधार पर प्राच्य के वर्तमान और अतीत का 'प्राच्यीकरण' किया। इन अर्थों में प्राच्यवाद यूरोपीय शासन को वैध ठहराते हुए इसके श्रेष्ठ होने के तर्क की पुष्टि करता है। सईद की इस पुस्तक के केंद्र में भारत नहीं था। उनकी प्राच्यवादी स्थापनाएं मध्यपूर्व और अरब देशों के आलोक में विकसित हुईं और इस तरह सईद का प्राच्यवाद पारंपरिक प्राच्यवाद से भिन्न है। सईद भी अपनी दृष्टि की इस सीमा को स्वीकारते हैं। पर सईद ने परवर्ती विद्वानों के लिए प्राच्यवाद के अध्ययन के संबंध में ऐसे कई प्रतिमान विकसित किए जो बाद में भारत और पूरब के अन्य देशों के सन्दर्भ में प्राच्यवादी अध्ययन की दृष्टि का प्रमुख आधार बन गए। प्राच्यवाद को लेकर सईद की स्थापनाओं के बारे में संक्षेप में कहें तो

---

[37] सईद, एडवर्ड, *ओरिएण्टलिज्म वेस्टर्न कन्सेप्शन्स ऑफ द ओरिएण्ट,* पृ. 2

"सारांशतः प्राच्यवाद पूरब के ऊपर शासन करने, उसे संरचित करने और उसके ऊपर अधिकार जमाने की पश्चिमी शैली है।"[38]

ब्रिटिश प्राच्यवाद का भारतीय सन्दर्भ

भारत के संबंध में ब्रिटिश संस्थाओं और व्यक्तियों के द्वारा किए गए प्राच्यवादी अध्ययन के स्वरूप को लेकर पूरब और पश्चिम के आलोचकों और इतिहासकारों में विभिन्न मत प्रचलित हैं। कुछ विद्वान इन्हें भारत का हितकारी मानते हैं और इसका प्रमुख उद्देश्य ज्ञानार्जन मानते हैं। पर अधिकांश विद्वानों के विचार में भारत के संबंध में ब्रिटिश संस्थाओं और व्यक्तियों के प्राच्यवादी अध्ययन का उद्देश्य सिर्फ ज्ञानार्जन करना नहीं था, इनका परम उद्देश्य ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीतियों को लागू करने के लिए बौद्धिक-सांस्कृतिक संबल प्रदान करना था ताकि औपनिवेशिक संरचनाओं को दीर्घकालिक बनाया जा सके। "प्राच्यवाद की चर्चा का तात्पर्य है 'पूरब' को लेकर मुख्यतः ब्रिटेन और फ्रांस के सांस्कृतिक अभियान की बात करना। इस तरह के प्रयोजन के आयाम अत्यधिक विस्तृत हैं और इसके अंतर्गत पूरा का पूरा भारत, निकट-पूर्व, बाइबिल के पाठों और इनमें उल्लिखित भू-क्षेत्र, मसालों का व्यापार, औपनिवेशिक सेवाएँ और औपनिवेशिक प्रशासन की लंबी परंपराएँ, विद्वानों का एक विशाल समूह, असंख्य प्राच्यविद, प्राच्य से जुड़े अध्यापक-अध्येता, प्राच्य से जुड़े हुए तमाम विचारों का समूह (प्राच्य निरंकुशता, प्राच्य वैभव, क्रूरता और कामुकता) पूरब के अनेक धार्मिक सम्प्रदाय, दार्शनिक चिंतन, पूरबी ज्ञान राशि स्थानीय यूरोपीय उपयोग के लिए अनुकूलित कर ली गई।"[39] इस प्रकार की धारणा अकारण नहीं बनी। इसका ठोस वैचारिक आधार था, जो कई तथ्यों से पुष्ट किया जा सकता है। जेम्स मिल का भारत आए बगैर यहाँ का इतिहास लिख देना प्राच्यवादी दृष्टिकोण का ही एक उदाहरण है, जो उपर्युक्त उद्धरण को सही ठहराता है।

पी.एन. सिंह लिखते हैं, "पूरब की प्रचलित छवि पूरब के यथार्थ की अभिव्यक्ति न होकर पश्चिम द्वारा निर्मित छवि है, प्राच्यवाद उसी का आख्यान है, नैरेटिव है। लेकिन यह प्राच्यवादी आख्यान यूं ही निरापद नहीं बना। यह ब्रितानी एवं फ्रांसीसी सांस्कृतिक उद्यम

---

[38] वही, पृ. 4

[39] मेक्फी, ए.एल. (सम्पा.) *ओरिएंटलिज्म- ए रीडर,* पृ. 41

का परिणाम था, जिसमें औपनिवेशिक सेनाओं, प्रशासकों, बाईबिल एवं व्यवसाय के साथ-साथ उनके ज्ञान और कल्पना का भी अवदान रहा। पूरब को तानाशाही, शान-शौकत, मांसलता और नृशंसता, अध्यात्म और अंधविश्वास, सपेरा और संन्यासी के एक अजीबोगरीब क्षेत्र के रूप में प्रस्तुत किया गया जो पूरब संबंधी पश्चिमी अध्ययन का एक प्रचलित एवं मानक प्रारूप है। यह पूरब पश्चिम के लिए केवल जिज्ञासा का ही क्षेत्र नहीं रहा, बल्कि कलाकार राजपुरुष डिजरायली के शब्दों में यह पश्चिम के किसी संभावना-संपन्न युवक का प्रगति-क्रम (Career) और एक सर्वग्राही लालसा (All communing passion) भी बना।"[40]

अकादमिक जगत इस तरह के उद्धरणों से भरा पड़ा है, जिनमें प्राच्यवादी अध्ययन का उद्देश्य सिर्फ ज्ञानार्जन न मानकर इसकी आत्मा को साम्राज्यवादी दृष्टि से परिचालित कहा जाता है। इस मत को मानने वालों का तर्क है कि ब्रिटिश संस्थाओं और विद्वानों ने भारत के प्राचीन धार्मिक और साहित्यिक ग्रंथों का अंग्रेजी अनुवाद करके यहाँ के प्राचीन भारतीय समाज एवं संस्कृति के बारे में मिथ्या एवं अतार्किक निष्कर्ष स्थापित किए। इनके अनुसार इन अनुवादों में यह दिखाया गया कि प्राचीन भारत के लोगों में इतिहास का कोई बोध नहीं था, उन्हें तिथि एवं कालक्रम की विशेष जानकारी नहीं थी, और यहां के लोगों को एकल राजतंत्रात्मक शासन की आदत है। भारतीय लोग भौतिक समस्याओं से पलायन करके आध्यात्मिक और पारलौकिक कल्पनाओं में खोए रहते हैं, और प्राचीन काल से ही भारत वासियों में राष्ट्रीय चेतना का अभाव था।

भारतीय सन्दर्भ में प्राच्यवाद के स्वरूप को लेकर एक दूसरा पक्ष भी है। इसके समर्थन में विद्वानों का मत है कि सत्रहवीं और अठारहवीं सदी के दौरान भारत की प्राचीन संस्कृति और इतिहास की खोज और अध्ययन के द्वारा ब्रिटिश संस्थाओं और विद्वानों ने भारतवासियों को उनके इतिहास और संस्कृति का बोध कराया। चन्द्रगुप्त, अशोक और कनिष्क जैसे महान भारतीय शासकों के बारे में सबसे पहले ब्रिटिश अध्येताओं ने ही पता लगाया और भारत को उनके गौरवशाली इतिहास की याद दिलाई।

एशियाटिक सोसायटी की भूमिका

वारेन हेस्टिंग्स ने एशियाटिक सोसायटी की स्थापना सन् 1784 में की। इस सोसाइटी को उस युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्था बनाने वालों में विलियम जोन्स, जॉन हाइड,

---

[40] शाही, सदानंद (सम्पा.), *साखी,* अंक 15-16, पृ. 12

जोनाथन डंकन, चार्ल्स विल्किंस, एच.एच. विल्सन और जेम्स प्रिंसेप के नाम प्रमुख हैं। इस संस्था के द्वारा *एशियाटिक रिसर्चेज* का प्रकाशन किया जाता था, जिसके विषय 'प्राच्य' से संबंधित होते थे।

शीतांशु कुमार ने लिखा है, "विलियम जोन्स और उनके साथी प्राच्यविदों ने विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद किए, भारतीय धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया, प्राचीन पाण्डुलिपियों का पता लगाया, व्याकरणों की रचना की, भारतीय कानून, जाति-प्रथा और सामाजिक संरचना का विश्लेषण किया और भारतीय परिवेश से प्रेरणा लेकर काव्य-सृजन भी किया। जोन्स को ग्रीक, रोमन, फ्रेंच, स्पानी, इतालवी, चीनी, संस्कृत आदि भाषाओं का परिचय प्राप्त था। मनुस्मृति, हितोपदेश, महाभारत, ऋग्वेद, कालिदास, जयदेव, प्राचीन भारतीय संगीत, भारतीय प्रकृति, दर्शन, पुराण, ज्योतिष, बीजगणित, नाट्यशास्त्र, मुहम्मद, फिरदौसी, खुसरो, निजामी के सन्दर्भ में उन्हें विस्तृत जानकारी थी और इस जानकारी को उन्होंने अंग्रेजी में उपलब्ध कराया।"[41]

भारत के प्राचीन इतिहास के लेखन में भी एशियाटिक सोसायटी के विद्वानों के खोजों की भूमिका क्रान्तिकारी रही है। इसमें जोन्स और प्रिंसेप प्रमुख थे। सर्वप्रथम विलियम जोन्स ने ही चन्द्रगुप्त मौर्य की पहचान यूनानी साहित्य में वर्णित भारतीय राजा सैंड्रोकोट्टस से की थी। जोन्स की यह खोज कितनी महत्त्वपूर्ण थी इस बात का अंदाज़ा इसी से लगाया जा सकता है कि इससे पहले भारत के लोग इस देश के महान शासक चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम से अपरिचित थे। "*मेगास्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन* की भूमिका में आचार्य शुक्ल का यह उत्साह अनायास नहीं है- धन्य वह घड़ी थी जिसमें सर विलियम जोन्स इन पुराणों की नामावली के चन्द्रगुप्त और यूनानियों के 'सैंड्रोकोटस' (Sandrakottos) में सादृश्य देखकर चौंके थे।"[42]

ओम प्रकाश केजरीवाल की पुस्तक *भारत के अतीत की खोज* के प्राक्कथन में ए.एल. बाशम ने भारत में ब्रिटिश प्राच्यवाद के महत्त्व को स्थापित करते हुए और एडवर्ड सईद के अर्थों में प्राच्यवाद को स्थापित करने वालों के विरोध में लिखा है, "सोसायटी ने न केवल भारत के साहित्य, संस्कृति और भाषाओं में रुचि ली बल्कि भारत संबंधी प्रकृति विज्ञान के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। सोसायटी ने अपने प्रारम्भिक दिनों में प्रकृति विज्ञान में जो रुचि ली, उसे पश्चिम के प्राच्यविदों के आलोचकों ने अपने इस तर्क का आधार बनाया कि अंग्रेजों

---

[41] शीतांशु, ब्रिटिश *प्राच्यवाद और हिन्दी साहित्येतिहास की अवधारणाएं,* कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता में वर्ष 2013 में प्रस्तुत पीएच.डी. थीसिस, पृष्ठ. 7

[42] शुक्ल, आनंद कुमार, *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अनुवाद कर्म,* पृ. 30

ने भारत संबंधी अध्ययनों में केवल इसलिए रुचि ली ताकि वे इस क्षेत्र पर अपनी प्रशासनिक पकड़ को और मजबूत तथा प्रभावशाली बना सकें। इस तरह के विचार हमें द्विशतवार्षिकी के अवसर पर आयोजित गोष्ठियों में भी सुनने को मिले। यह तो सभी जानते हैं कि वॉरेन हेस्टिंग्स का यह विचार रहा था कि यदि कंपनी को अपने अधीनस्थ क्षेत्रों पर अपनी पकड़ को और मजबूत तथा चिरस्थायी बनाना है तो उसके लिए आवश्यक है कि वह अपने शासित लोगों के रीति-रिवाजों और उनकी संस्कृति के प्रति सहानुभूति का भाव रखे और उन्हें ठीक से समझे।

संभव है कि इस सोसायटी की स्थापना के कार्य में हेस्टिंग्स ने अपना जो समर्थन दिया, वह कुछ हद तक इस भावना से प्रेरित रहा हो। लेकिन निस्संदेह ऐसा कुछ ही हद तक था क्योंकि हेस्टिंग्स ने जो कुछ लिखा, उससे स्पष्ट है कि हेस्टिंग्स मात्र उन्हीं भावनाओं से प्रेरित नहीं था जो एक कुशल प्रशासक के लिए आवश्यक हैं।...यह कहना कि सोसायटी के सदस्य भी राजनीतिक उद्देश्यों से प्रेरित थे, अपने आप में और भी अधिक संदेहास्पद है। जब जोन्स ने शकुंतला का अनुवाद किया और सारे पाश्चात्य जगत को संस्कृत नाट्यशास्त्र की समृद्धि से परिचित कराया तो उनके बारे में क्या हम यह सोचें कि उन्होंने ऐसा जानकर किया कि 'मैं ऐसा इसलिए कर रहा हूँ ताकि मेरा देश अपने अधीन लोगों पर अपने शासन की पकड़ को और अधिक मजबूत कर सके।' क्या जेम्स प्रिंसेप के मन में यही भावना थी जब उन्होंने अशोक के अभिलेखों को पढ़ा? वेदों के प्रथम अध्ययन के पीछे कोलब्रुक का उद्देश्य क्या राष्ट्रीयता से प्रेरित था? यदि इन विद्वानों को अपने खाली समय के उपयोग के माध्यम से अपने देश या ईस्ट इंडिया कंपनी की और अच्छी सेवा करनी थी तो निस्संदेह उनके पास विद्याध्ययन से अधिक प्रभावशाली तरीके थे।...पर वास्तव में ये प्रथम भारतविद् केवल एक ही उद्देश्य से प्रेरित थे और वह था ज्ञान की लालसा। ऐसी सभ्यता और संस्कृति के बारे में ज्ञान या जानकारी की लालसा जो उनकी अपनी संस्कृति से बिल्कुल भिन्न थी लेकिन जिसके बारे में वे अच्छी तरह जानते थे कि उसमें सौंदर्य और ज्ञान का भंडार है। प्रगाढ़ विद्वत्ता के हर प्रयत्न के पीछे एक ही भावना कार्य करती है- बौद्धिक जिज्ञासा तथा ज्ञानार्जन की उत्कट अभिलाषा। और यह भावना एशियाटिक सोसायटी के प्रारंभिक विद्वानों में कूट-कूट कर भरी थी।"[43]

अपने तर्कों के माध्यम से बाशम ने यह मत प्रकट किया है कि प्राच्यविदों द्वारा भारत की संस्कृति और सभ्यता को लेकर किए गए शोध और अनुसंधान के पीछे बौद्धिक जिज्ञासा और ज्ञानार्जन की प्रेरणा ही थी। इसके औपनिवेशिक निहितार्थ नहीं थे। इतना ही नहीं बाशम

---

[43] केजरीवाल, ओमप्रकाश, *भारत के अतीत की खोज,* पृ. 6-7

भारत के राष्ट्रवादी इतिहासी लेखन का आधार भी ब्रिटिश प्राच्यविदों के अध्ययन पर खड़ा करते हैं। बाशम का मत है, ''उन्हीं (प्राच्यविदों) के अध्ययनों ने परोक्ष रूप से आधुनिक भारत में राष्ट्रवाद की नींव रखी। यदि पढ़े-लिखे भारतीय भी ऐसी जानकारी से वंचित रह जाते कि उनकी संस्कृति में न केवल आध्यात्म का भंडार है बल्कि कालिदास जैसे नाटककार और अशोक जैसे सम्राट रहे हैं तब आधुनिक भारत का सारा इतिहास संभवतः कुछ और ही होता, और शायद दुखदायी होता। वास्तव में भारत, अध्ययन प्रेमी सदस्यों के इस छोटे से दल के प्रति आभारी है जिसने उसके समृद्ध अतीत की खोज का काम आरंभ किया जो अभी तक भी अपूर्ण है। उनका अंग्रेज होना एक संयोग मात्र था। लेकिन इसके लिए वे सभी और हर जाति की भावी पीढ़ियों की प्रशंसा और आभार के हकदार हैं क्योंकि उनके योगदान से सारे मानव समाज की गरिमा बढ़ी है।''[44] ए.एल. बाशम की ही तरह एक और प्रमुख इतिहासकार डेविड कॉफ प्राच्यविदों के योगदान को महत्त्वपूर्ण बताते हुए सन् 1773 से सन् 1830 तक के भारतीय इतिहास को 'प्राच्यवाद युग' की संज्ञा देते हैं।

डेविड कॉफ अपनी पुस्तक *ब्रिटिश ओरियंटलिज्म ऐण्ड बंगाल रेनेसाँ* में एशियाटिक सोसायटी के बाद फोर्ट विलियम कॉलेज को प्राच्यवाद की अगली कड़ी के रूप में देखने की पेशकश करते हैं। प्राच्यविदों के योगदान को रेखांकित करते हुए डेविड कॉफ इस पुस्तक में लिखते हैं, "संस्कृतियों के बीच मेल के दौर को कम महत्त्वपूर्ण समझ कर नहीं आँकना चाहिए। ज्यादातर प्राच्यविद उन्नीसवीं सदी की विक्टोरियाई दृष्टि में राष्ट्रवादी नहीं थे। इसके विपरीत, वे अठारहवीं सदी की विवेकशीलता, शास्त्रीयता, और सार्वदेशिकता के उत्पाद थे। दक्षिण एशिया में आने वाले बाद के अंग्रेजों से अलग, वे कम से कम एक भारतीय भाषा में महारत हासिल करते थे, और उस भाषा का गंभीर शोध के लिए इस्तेमाल करते थे। कई प्राच्यविद- जैसे कि विलियम जोन्स, एच.टी. कोलब्रुक, विलियम कैरे, एच.एच.विल्सन और जेम्स प्रिंसेप ने भारतीय भाषाशास्त्र, पुरातत्त्वशास्त्र, और इतिहास के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिए। इतना ही नहीं, इन प्राच्यविदों में क्लबों में कुर्सियों पर जम जाने की प्रवृत्ति नहीं थी और इन्होंने जातीय श्रेष्ठता के बोध से ग्रसित कोई भी ऐसी चीन की दीवार तैयार नहीं कर रखी थी कि जिन पर शासन किया जा रहा है उनसे दूरी बना कर रखी जाए। इससे अलग, इन प्राच्यविदों ने बंगाली बुद्धिजीवियों के साथ बहुत ही सौहार्दपूर्ण संबंध स्थापित किया जिनके लिए वे पश्चिमी ज्ञान के स्रोत थे और जिनके साथ वे कलकत्ता में सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन को बढ़ावा देते थे।"[45] बाशम के तर्क कुछ हद तक सही हैं। ब्रिटिश

---

[44] वही, पृ. 7

[45] कॉफ, डेविड, *ब्रिटिश ओरियंटलिज्म ऐण्ड बंगाल रेनेसाँ,* पृ. 2

औपनिवेशिक संरचनाओं के विस्तार के क्रम में आरंभिक प्राच्यविदों ने भारत के प्राचीन साहित्य और इतिहास की खोज में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इस खोज से भारत में इतिहास विषय ज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण अनुशासन के रूप में स्थापित हुआ।

डॉ. रामविलास शर्मा ने भी अपनी पुस्तक *भारतीय साहित्य की भूमिका* में विलियम जोन्स के लेखन के कुछ अंशों को 'यूरोपीय श्रेष्ठता' की भावना से मुक्त बताया है। उन्होंने इस पुस्तक के एक अध्याय *विलियम जोन्स और भारतीय संस्कृति* में यह स्थापना दी है कि "एशियाई संस्कृति गतिरुद्ध समाजों की संस्कृति थी, यह धारणा विलियम जोन्स के लेखों से खंडित हो जाती है।...हेगल की तरह यहाँ की देवोपासना को बर्बरता का चिन्ह न कहकर उन्होंने उसे सभ्य यूनान और रोम की देवपूजा से तुलनीय माना था।"[46] यद्यपि उन्होंने यह भी लिखा कि "जोन्स ने तुलनात्मक और ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की नींव डाली थी पर बाइबिल की कथाओं को सच मानने के कारण वह अंधविश्वासों और रूढ़िवाद से मुक्त न हो सके थे। बाशम के तर्कों के संदर्भ में *नील दर्पण* नाटक के अंग्रेजी अनुवाद का प्रकरण भी उल्लेखनीय है। *नील दर्पण* प्रख्यात बांग्ला नाटककार दीनबन्धु मित्र की रचना है। यह नाटक सन् 1860 में प्रकाशित हुआ था। "इस नाटक में बंगाल में नील की खेती करने वाले अंग्रेजों द्वारा शोषण, भारतीय किसानों के ऊपर अमानुषिक अत्याचारों की बड़ी भावपूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।"[47] एक पादरी रेवरेंड जेम्स लोंग ने *नील दर्पण* नाटक का अंग्रेजी में अनुवाद किया। इस अनुवाद के लिए ब्रिटिश सरकार ने रेवरेंड जेम्स लोंग पर मुकदमा चलाया और उन्हें एक महीने की जेल की सजा भी मिली। पर जेल की सजा दिए जाने मात्र से लोंग द्वारा इस नाटक के अनुवाद का उद्देश्य 'पवित्र भावना' से प्रेरित नहीं हो जाता है। जब लोंग पर मुकदमा चलाया गया, तब उन्होंने कोर्ट में इस अनुवाद के पीछे की असली मंशा को जाहिर किया था। लोंग पर चलाए गए मुकदमे का पूरा विवरण नेमिचन्द्र जैन द्वारा किए गए *नील दर्पण* के हिन्दी अनुवाद में प्रकाशित है, जिसमें लोंग की स्वीकारोक्ति है, "यह पुस्तक अपनी देशी भाषा की पोशाक में इतनी क्षतिकारक थी तो उसे अँग्रेजी में सुलभ बनाकर क्या मैंने सार्वजनिक सेवा नहीं की?...यही नहीं, मिशनरियों के अनुरोध पर मैंने ईसाई धर्म-विरोधी ग्रन्थ भी इकट्ठा करके दिये हैं, क्योंकि वे जानना चाहते थे कि ईसाई धर्म के विरुद्ध क्या लिखा जाता है।"[48] *नीलदर्पण* देशी भाषा अर्थात बांग्ला में लिखी गई थी। रेवरेंड जेम्स लोंग के विचार में

---

[46] शर्मा, रामविलास, *भारतीय साहित्य की भूमिका,* पृ. 9

[47] मित्र, दीनबन्धु, अनु. नेमिचन्द्र जैन, *नील दर्पण,* पृ. 5

[48] वही, पृ. 159

ब्रिटिश राज के लिए यह एक क्षतिकारक पुस्तक थी। उन्होंने इस पुस्तक का अनुवाद यूरोपीय लोगों को इस नाटक की विषय-वस्तु की जानकारी देने के उद्देश्य से किया था। पर कोर्ट द्वारा लोंग को सजा इसलिए सुनाई गई कि अंग्रेजी में अनूदित होने के बाद अंग्रेजी जानने वाले एक बहुत बड़े वर्ग को नील की खेती कराने वाले अंग्रेजों द्वारा भारतीय किसानों पर किए जा रहे अत्याचारों का पता चल जाता। जिस समय यह नाटक प्रकाशित हुआ उससे बहुत पहले भारत में अंग्रेजी शिक्षा पद्धति लागू हो चुकी थी। उच्च मध्य वर्ग और धर्म समाज-सुधार आंदोलनों से जुड़ा एक बड़ा वर्ग शासक की भाषा बोलने और समझने लगा था। अंग्रेजी ग्रन्थों का देशी भाषाओं में बड़े पैमाने पर अनुवाद किया जा रहा था। इसीलिए कोर्ट ने रेवरेंड जेम्स लोंग का यह तर्क स्वीकार नहीं किया कि "प्रजा तो एक मूक पशु है जो अपने शासक की भाषा नहीं जानती।"[49] नील दर्पण के प्रकाशन के समय नील की खेती का विवाद बड़ा रूप ले रहा था। अंग्रेजी अनुवाद के माध्यम से नील की खेती करने वाले किसानों का शोषण पूरे देश के सामने आ गया था। लोगों में अंग्रेजी शासन के विरुद्ध जो चेतना पैदा हुई थी, उसे नील के विवाद ने और बढ़ाने का काम किया। चेतना का यह प्रसार अनुवाद के माध्यम से ही संभव हुआ।

सन् 1857 के विद्रोह के बाद देश में अंग्रेजी राज के विरुद्ध पहले से ही व्यापक असंतोष था। सन् 1858 में भारत का शासन ईस्ट इंडिया कंपनी की जगह ब्रिटेन की महारानी के अधीन आ गया था। इस अनुवाद ने अंग्रेजों द्वारा स्वयं को प्रजा-हितैषी शासक सिद्ध करने के ढोंग को उजागर कर दिया। "बांग्ला के पहले सार्वजनिक, टिकट बिक्री से चलनेवाले मंच पर यह नाटक जब 1872 में खेला गया तो एकओर दर्शकों की भीड़ उमड़ पड़ी और दूसरी ओर अँग्रेजी अखबारों में इस पर बड़ी तीखी टिप्पणी हुई। 1876 में अँग्रेज सरकार द्वारा ड्रैमेटिक परफार्मेन्सेज कंट्रोल ऐक्ट के जारी किए जाने के पीछे अन्य बातों के अलावा नील दर्पण जैसे नाटकों की विद्रोही भावना का दमन भी एक उद्देश्य था।"[50] न केवल रेवेरेंड जेम्स लोंग बल्कि इनके जैसे कई ब्रिटिश अध्येता अनुवाद के माध्यम से ब्रिटिश प्रशासकों को देशी साहित्य की राष्ट्रवादी और विद्रोही भावना से परिचित करा रहे थे। यह काम कई ईसाई मिशनरियों ने भी किया। इसी के परिणामस्वरूप देशी भाषाओं में लिखे जा रहे साहित्य को प्रतिबंधित करने के लिए अंग्रेजों द्वारा समय-समय कई कानून लागू किए गए।

प्राच्यवादी अध्ययन के उद्देश्यों को लेकर विद्वानों में अलग-अलग मत प्रचलित हैं। विद्वानों का एक वर्ग प्राच्यविदों को 'ज्ञानार्जन की पवित्र भावना' से प्रेरित कहता है तो दूसरा वर्ग

---

[49] वही, पृ. 159

[50] वही, पृ. 5

इन्हें 'औपनिवेशिक सत्ता के सांस्कृतिक वर्चस्ववादी अभियान का अग्रदूत' बताता है। वैकल्पिक तथ्यों की सचेत अनदेखी और अनुकूल तथ्यों का सचेत श्रमसाध्य चयन प्राच्यविदों के द्वारा किए गए अध्ययन और भारत के अतीत को लेकर उनके द्वारा निर्मित की गई छवियों के सम्यक् मूल्यांकन की सबसे बड़ी बाधा है। भारतीय इतिहास का वह दौर उपनिवेशवाद के साथ-साथ प्राचीन साहित्य, इतिहास और संस्कृति के विस्तार का दौर था। ज्ञानार्जन की लालसा ब्रिटिश प्रशासकों की देख-रेख में ही संरक्षित हो रही थी, जिसमें ज्ञान के नए-नए क्षितिज खुल रहे थे, परंतु इनमें यूरोपीय श्रेष्ठता की भावना अनिवार्य रूप से विद्यमान थी।

दूसरा अध्याय

भारतेन्दु युग के हिन्दी अनुवाद : औपनिवेशिक आत्मसातीकरण की प्रक्रिया का उत्तर

- बांग्ला से हिन्दी अनुवाद
- संस्कृत से हिन्दी अनुवाद
- अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद
- अनुवाद की प्रक्रिया में किए गए परिवर्तन और राष्ट्रीय चेतना

दूसरा अध्याय

भारतेन्दु युग के हिन्दी अनुवाद : औपनिवेशिक आत्मसातीकरण की प्रक्रिया का उत्तर

औपनिवेशिक सत्ता के अधीन काम करते हुए ब्रिटिश प्रशासकों और प्राच्यवादी विद्वानों एक वर्ग ने संगठित रूप से भारतीय ज्ञान परंपरा के विकृत अनुवाद के माध्यम से भारतीयों को हीन दिखाने और यूरोप की संस्कृति को श्रेष्ठ सिद्ध करने का अभियान चलाया। प्रो. देवशंकर नवीन का मत है "अनुवाद के क्षेत्र में दूषित धारणाओं का प्रवेश दरअसल ब्रिटिश साम्राज्य के दौर में हुआ, जब अंग्रेज सम्पोषित अनुवाद ने भारतीय पाठ का अभद्र अनुवाद प्रस्तुत कर अनुवाद-कर्म को कलंकित किया। किंतु इस कुकृत्य से एक बड़ा सद्परिणाम भी सामने आया। भारतीय बौद्धिकों के मन में अपने पाठ, भाषा, संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम उभरा।"[1] उन्नीसवीं सदी में भारतीयों का एक बड़ा बौद्धिक वर्ग अपनी संस्कृति और इतिहास के अध्ययन के क्षेत्र में उतर गया। भारत की वैभवशाली संस्कृति और इतिहास के प्रति अपने अगाध प्रेम को दर्शाते हुए भारतीय विद्वानों और साहित्यकारों ने सत्रहवीं-अठारहवीं

[1] नवीन, देवशंकर, *अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य*, पृ. 179

शताब्दी में प्राच्यविदों द्वारा किए गए भारत के औपनिवेशिक आत्मसातीकरण की प्रक्रिया का उत्तर देना आरंभ कर दिया। इस दिशा में अनुवाद की भूमिका ऐतिहासिक है।

आत्मसातीकरण के विषय में प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है "वैसे तो अनुवाद मूलतः अन्य का आत्मसातीकरण है, लेकिन औपनिवेशिक अनुवाद भारतीय समाज, कानून, इतिहास, संस्कृति, साहित्य, परंपरा और चेतना के आत्मसातीकरण के अभियान का साधन था। भारत में जब नवजागरण की शुरुआत हुई, तब भारत का शिक्षित समुदाय इस स्थिति के बारे में धीरे-धीरे सचेत हो रहा था। भारतीय नवजागरण के निर्माताओं में से अनेक ने ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अनुवाद संबंधी अभियान के अभिप्राय को समझते हुए उसके उत्तर की खोज की दिशा में प्रयत्न करना शुरू किया और भारतीय समाज को जगाने के लिए स्वयं अनुवाद का काम आरंभ किया। भारतीय नवजागरण की चेतना के प्रसार में, भारत की विभिन्न जातीयताओं के बीच आत्मीय संबंध के विकास में और एक व्यापक अखिल भारतीय राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना के निर्माण में अनुवाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, जिस पर पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। भारतीय नवजागरण के अधिकांश निर्माता और हिन्दी नवजागरण के निर्माता भी महत्त्वपूर्ण अनुवादक रहे हैं। हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु ने अनेक भाषाओं के साहित्य का हिन्दी में अनुवाद किया था। उन्होंने अंग्रेजी के साथ-साथ संस्कृत, बांग्ला, उर्दू आदि से महत्त्वपूर्ण रचनाओं का अनुवाद किया है। हिन्दी में अनुवाद की यह परंपरा महावीर प्रसाद द्विवेदी से होते हुए रामचन्द्र शुक्ल तक पहुंचती है।"[2] स्पष्टतः राष्ट्रीय चेतना और नवजागरण के आरंभिक दौर में भारत के राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना के निर्माण में अनुवाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। भारत की भिन्न-भिन्न जातीयताओं के बीच आत्मीयता को बढ़ाने और आधुनिक भाव-बोध का विस्तार करने के लिए नवजागरण के उन्नायकों ने अनुवाद को अपने सांस्कृतिक प्रतिरोध का माध्यम बनाया।

बांग्ला से हिन्दी अनुवाद

भारत में सबसे पहले बंगाल का क्षेत्र ईस्ट इंडिया कंपनी के माध्यम से 'पश्चिम' के नए ज्ञान-विज्ञान के संपर्क में आया था। एशियाटिक सोसायटी और फोर्ट विलियम कॉलेज जैसे

---

[2] पाण्डेय, मैनेजर, *आलोचना में सहमति और असहमति*, पृ. 113

अकादमिक संस्थानों की स्थापना बंगाल में ही हुई थी। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में बंगाल में व्यापक स्तर पर समाज सुधार आन्दोलन हुए, पुनरुत्थानवादी चेतना का प्रसार हुआ। साहित्य, कला और संस्कृति का अभूतपूर्व विकास हुआ। इन सबके फलस्वरूप सर्वप्रथम बंगाल ही भारत में आधुनिक चेतना के एक प्रमुख केंद्र के रूप में स्थापित हुआ। अंग्रेजी और दुनिया की अन्य भाषाओं के ज्ञान-विज्ञान,कला और साहित्य के संपर्क में आने से बांग्ला साहित्य में अभूतपूर्व प्रगति हुई।

अंग्रेजी राज की स्थापना के बाद धीरे-धीरे इसके 'प्रभाव और प्रतिक्रिया' के फलस्वरूप देश में नवजागरण की नवीन चेतना का आविर्भाव हुआ। नवजागरण की चेतना के विकास में अनुवाद की भूमिका उल्लेखनीय है। अनुवाद के माध्यम से दुनिया भर में हो रही ज्ञान-विज्ञान संबंधी प्रगति भारत के कोने-कोने में पहुँच रही थी। फ्रांस की क्रांति के आदर्शों, आधुनिक राष्ट्रवाद की उत्पत्ति, यूरोपीय पूंजीवाद, औद्योगिक क्रांति, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद, मार्क्सवाद, भौतिकतावाद, मानवतावाद, यथार्थवाद और दर्शन के क्षेत्र में सामने आ रहे नित नए-नए वैज्ञानिक चिन्तन भारत तक अनुवाद की सरणि के माध्यम से ही पहुँच रहे थे। भारतीय समाज अभिभूत होकर विश्व के कोने-कोने से आयातित (अनूदित) ज्ञान के इन नए विमर्शों को पढ़ रहा था और समझने की कोशिश कर रहा था। कार्ल मार्क्स, रूसो, डार्विन और टॉलस्टॉय का चिन्तन भारत में अनुवाद के कारण ही आया, जिससे भारत में वैज्ञानिक चिन्तन को एक नया आयाम मिला। इन सबके फलस्वरूप मध्ययुगीन जड़ता के स्थान पर बुद्धिवाद की स्थापना हुई। हिन्दी नवजागरण का वैचारिक उत्स बंगाल और गुजरात का नवजागरण था।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भारतेन्दु युग के प्रमुख अनुवादक थे। इनकी साहित्यिक चेतना पर संस्कृत और बांग्ला साहित्य का गहरा प्रभाव पड़ा था। डॉ. रामविलास शर्मा की स्थापना है 'हिन्दी-नवजागरण मूलतः बुद्धिवादी और रहस्यवाद विरोधी है'। उन्होंने इसका सबसे बड़े प्रवक्ता भारतेन्दु को ही कहा था।

बांग्ला नाटकों का अनुवाद

आधुनिक हिन्दी साहित्य में गद्य लेखन की शुरुआत प्रायः नाटकों से मानी जाती है। रमण सिन्हा लिखते हैं "खड़ी बोली हिन्दी का उद्भव और विकास हिन्दी नवजागरण के उदय के

साथ होता है। नवजागरण यदि 'दो जातीय संस्कृतियों की टकराहट से उत्पन्न रचनात्मक ऊर्जा है' तो कहना होगा कि अनुवाद ही वह माध्यम है जो संस्कृतियों में संपर्क और टकराहट को संभव बनाता है। आश्चर्य नहीं कि नवजागरण की चेतना के पीछे अनुवाद की प्रायः केन्द्रीय भूमिका रही है।"[3] खड़ी बोली गद्य की सभी विधाओं में सर्वाधिक सामाजिक स्वरूप नाटक का ही होता है। संभवतः इसीलिए भारतेन्दु युग में नाटकों का अनुवाद सबसे अधिक हुआ क्योंकि नवजागरण की सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना के प्रसार में नाटक विधा सर्वाधिक सहायक हो सकती थी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने लिखा था "यद्यपि हिन्दी भाषा में दस-बीस नाटक बन आए हैं किन्तु हम यही कहेंगे कि अभी इस भाषा में नाटकों का बहुत ही अभाव है। आशा है कि काल की क्रमोन्नति के साथ ग्रंथ भी बनते जाएंगे और अपनी संपत्ति शालिनी ज्ञान वृद्धा बड़ी बहन बंग भाषा के अक्षय रत्न भंडार की सहायता से हिन्दी भाषा बड़ी उन्नति करे।"[4] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र बांग्ला को साहित्यिक समृद्धि की दृष्टि से हिन्दी की बड़ी बहन मानते थे और वे अपने युग के लेखकों को बांग्ला नाटकों के हिन्दी अनुवाद के लिए प्रेरित कर रहे थे। इसके पीछे भारतेन्दु की दृष्टि हिन्दी भाषा को समृद्ध करने के साथ ही इसकी चेतना में विस्तार करना भी थी। भारतेन्दु ने जब लिखना शुरू किया तब हिन्दी में मौलिक नाटकों का अभाव था। अनुवाद के माध्यम से इस अभाव को दूर करने के लिए ही भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भारतेन्दु मण्डल के समकालीन लेखकों का आह्वान किया। "किन्तु अंग्रेजी और संस्कृत के नाटकों के अनुवाद में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को आधुनिक हिन्दी नाटक का आदर्श प्राप्त नहीं हुआ। इसे भारतेन्दु ने बांग्ला नाटकों से प्राप्त किया। क्योंकि सन् 1852 से लेकर सन् 1868 तक बांग्ला ने संस्कृत और अंग्रेजी नाट्य शैलियों के समन्वय पर आधारित एक सर्वथा नवीन नाट्य शैली का निर्माण कर लिया था।"[5]

भारतेन्दु मण्डल के लेखकों द्वारा किए गए बांग्ला नाटकों के अनुवाद से बाद के वर्षों में हिन्दी नाटक के विकास को एक नई दिशा मिली। बांग्ला के प्रभाव से हिन्दी नाटकों में आधुनिक भाव बोध और युगीन परिवेश का चित्रण शुरू हुआ। नाट्य लेखन में नई-नई विषयवस्तु का प्रवेश हुआ।

---

[3] सिन्हा, रमण, *अनुवाद और रचना का उत्तर-जीवन,* पृ. 37

[4] अच्युतन, ए., *नाट्यानुवाद सिद्धान्त और विवेचना,* पृ. 93

[5] डॉ. माहेश्वर, *हिन्दी बंगला नाटक*, पृ. 93

हिन्दी साहित्येतिहास ग्रन्थों में भारतेन्दु युग के कई अनुवादकों और उनके अनुवादों का उल्लेख मिलता है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वयं इस युग के सबसे प्रमुख अनुवादक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। भारतेन्दु द्वारा अनूदित नाटकों के बारे में विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। यद्यपि 'आत्मसातीकरण' के वृहत्तर अर्थों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के मौलिक नाटकों को भी 'आत्मसातीकरण' की उपज कहा जा सकता है, और इस अर्थ में इनके सभी नाटक अनुवाद की कोटि में शामिल हो जाएंगे। पर हिन्दी साहित्येतिहास में सर्वमान्य तथ्य यही है कि उन्होंने *विद्यासुंदर* और *भारत जननी* नाम से दो बांग्ला नाटकों का हिन्दी अनुवाद किया। *विद्यासुंदर* नाटक संस्कृत ग्रंथ *चौरपंचाशिका* के यतीन्द्रमोहन ठाकुर कृत बांग्ला संस्करण का हिन्दी अनुवाद है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "विलक्षण बात है कि आधुनिक गद्य साहित्य परंपरा का प्रवर्तन नाटकों से हुआ। भारतेन्दु के पहले 'नाटक' के नाम से जो दो चार ग्रंथ ब्रजभाषा में लिखे गए थे उनमें से महाराज विश्वनाथसिंह के 'आनंद रघुनंदन' को छोड़कर किसी में नाटकत्व न था। हरिश्चन्द्र ने सबसे पहले 'विद्यासुंदर' नाटक का बँगला से सुंदर हिन्दी में अनुवाद करके संवत 1925 में प्रकाशित किया।"[6]

शुक्ल जी जिस नाट्य कृति से आधुनिक गद्य साहित्य की परंपरा का प्रवर्तन मानते हैं, वह एक अनूदित कृति है। स्पष्टतः हिन्दी गद्य परंपरा का आरंभ एक बांग्ला नाटक के अनुवाद से हुआ। *भारत जननी* किरणचन्द्र वंद्योपाध्याय के *भारतमाता* का हिन्दी अनुवाद है। डॉ. रामविलास शर्मा *सत्य हरिश्चन्द्र* को भारतेन्दु का मौलिक नाटक कहते हैं। इनका मत है, "उपक्रम में भारतेन्दु ने आर्य क्षेमेश्वर के 'चंड कौशिक' नाटक का जिक्र किया है जो 'इन्हीं हरिश्चन्द्र के चरित्र में बनाया' गया है।...भारतेन्दु ने भले ही क्षेमेश्वर और उनके अनुवर्ती किसी बंगला नाटककार से सहायता ली हो, 'सत्य हरिश्चन्द्र' की आत्मा हरिश्चन्द्र की है, उसका रूप-विन्यास, उसकी भाषा का लालित्य, उसके सरस पद्य सब हरिश्चन्द्र के हैं। इस नाटक की प्रेरणा भारतेन्दु की नवीन देश-भक्ति है जो उन्हें रीतिकालीन श्रृंगार की परंपरा से हटाकर नवयुवकों की शिक्षा के लिए नाटक लिखने पर बाध्य करती है। हरिश्चन्द्र के सामने साहित्य को लेकर कोई निषेध भावना न थी।... 'सत्य हरिश्चन्द्र' लिखकर भारतेन्दु देश की

---

[6] शुक्ल, रामचन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, पृ. 310

जनता का राष्ट्रीय गर्व जगाना चाहते थे। उनका उद्देश्य था कि यह नाटक पढ़कर लोग अपना चरित्र सुधारें।"[7]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत के अनुसार *सत्य हरिश्चन्द्र* किसी पुराने बांग्ला नाटक का अनुवाद है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है, "सत्य हरिश्चन्द्र मौलिक समझा जाता है पर हमने एक पुराना बँगला नाटक देखा है जिसका वह अनुवाद कहा जा सकता है।"[8] *सत्य हरिश्चन्द्र* भले ही अनुवाद के प्रचलित अर्थों में अनुवाद न हो, पर यह नाटक किसी प्राचीन कृति पर आधारित अवश्य जान पड़ता है। भारतेन्दु ने इस नाटक में सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र के पौराणिक कथानक की पुनर्प्रस्तुति की है। *सत्य हरिश्चन्द्र* नाटक सत्य के लिए उठाए गए कष्ट और त्याग के महत्त्व को दर्शाता है।

भारतेन्दु के अलावा बालकृष्ण भट्ट ने भी माइकेल मधुसूदन दत्त के *पद्मावती* और *शर्मिष्ठा* नाटकों का अनुवाद किया था। माइकेल मधुसूदन दत्त बांग्ला नाट्य साहित्य के एक बड़े लेखक थे जिनकी रचनाएँ बंगाल के उस आधुनिकता की ओर प्रयाण करते दौर में बहुत लोकप्रिय थीं। बालकृष्ण भट्ट ने संभवतः इसीलिए इनके नाटकों को अनुवाद के लिए चुना था। शुक्ल जी ने लिखा है, "खेद के साथ कहना पड़ता है कि भारतेन्दु के समय में धूम से चली हुई नाटकों की परंपरा आगे चलकर बहुत शिथिल पड़ गई। बाबू राम कृष्ण वर्मा बंग भाषा के नाटकों का – जैसे, वीर रानी पद्मावती, कृष्णकुमारी- अनुवाद करके नाटकों का सिलसिला कुछ चलाते रहे। इस उदासीनता का कारण उपन्यासों की ओर दिन-दिन बढ़ती हुई रुचि के अतिरिक्त अभिनयशालाओं का अभाव भी कहा जा सकता है। अभिनय द्वारा नाटकों की ओर रुचि बढ़ती है और उनका अच्छा प्रसार होता है। नाटक दृश्य काव्य है। उनका बहुत कुछ आकर्षण अभिनय पर अवलंबित रहता है।...ऐसी दशा में नाटकों की ओर हिन्दी प्रेमियों का उत्साह कैसे रह सकता था।"[9]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की मृत्यु के उपरांत नाटक लेखन की परंपरा क्षीण हो गई थी, जिसकी ओर शुक्ल जी इशारा करते हैं। तिलस्म ऐयारी, जासूसी और अंग्रेजी ढंग के उपन्यासों का चलन बढ़ने लगा था। हिन्दी रंगमंच के अभाव ने भी हिन्दी नाटकों के विकास का मार्ग अवरुद्ध कर दिया था। शुक्ल जी ने भारतेन्दु के बाद के नाटकों का उल्लेख करते हुए लिखा

---

[7] शर्मा, रामविलास, *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ,* पृ. 121

[8] शुक्ल, रामचन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृ. 316

[9] वही, पृ. 311

है, "भारतेन्दु के पीछे नाटकों की और प्रवृत्ति बहुत कम हो गई। नाम लेने योग्य अच्छे मौलिक नाटक बहुत दिनों तक दिखाई न पड़े। अनुवादों की परंपरा अलबत चलती रही।... बाबू राम कृष्ण वर्मा द्वारा वीरनारी, कृष्णाकुमारी और पद्मावती नाटकों का उल्लेख पहले हो चुका है। सं. 1950 के पीछे गहमर (जि. गाजीपुर) के बाबू गोपालराम ने 'बनवीर', 'वभ्रुवाहन', 'देश-दशा', 'विद्या विनोद', और रवींद्र बाबू के 'चित्रांगदा' का अनुवाद किया।... द्वितीय उत्थान के अंतिम भाग में पंडित रूप नारायण पांडे ने गिरीश बाबू के 'पतिव्रता', क्षीरो प्रसाद विद्याविनोद के 'खानजहाँ' रवींद्र बाबू के 'अचलायतन' तथा द्विजेंद्रलाल राय के 'उस पार', 'शाहजहाँ' 'दुर्गादास', 'ताराबाई' आदि कई नाटकों के अनुवाद प्रस्तुत किए। अनुवादकों की भाषा अच्छी खासी हिन्दी है और मूल के भावों को ठीक व्यक्त करती है।"[10] शुक्ल जी के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्टतः यद्यपि भारतेन्दु के ठीक बाद हिन्दी में मौलिक नाटकों की परंपरा कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो जाती है। पर इस युग में अनुवाद के माध्यम से नाट्य परंपरा का विकास होता रहा, और बांग्ला के कई महत्त्वपूर्ण नाटकों का हिन्दी में अनुवाद किया गया। शुक्ल जी द्वारा उद्धृत नाटकों के नाम से ही स्पष्टतः इनका उद्देश्य तत्कालीन औपनिवेशिक शासन के दौर में भारत के प्राचीन इतिहास और अतीत की पुनर्प्रस्तुति के माध्यम से पुनरुत्थान और नवजागरण कालीन सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का विस्तार करना ही रहा।

भारतेन्दु युग में बांग्ला नाटकों और उपन्यासों से हुए हिन्दी अनुवादों के परवर्ती प्रभाव को रेखांकित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं, "बंग देश में नए ढंग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था, जिनमें देश और समाज की नई रुचि और भावना का प्रतिबिंब आने लगा था। पर हिन्दी साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेन्दु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़कर जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नए-नए विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चन्द्र ही हुए।"[11] स्पष्टतः भारतेन्दु युग के अनुवादकों ने हिन्दी नाटक को तत्कालीन युगबोध के अनुरूप ढाला और आगे लिखे जाने वाले मौलिक नाटकों में राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों के समावेश का मार्ग प्रशस्त किया।

---

[10] वही, पृ. 309-312

[11] वही, पृ. 309

बांग्ला उपन्यासों का अनुवाद

भारतेन्दु के उपरांत हिन्दी नाट्य लेखन की विकास परंपरा कुछ समय के लिए अवरुद्ध हो गई थी। पर इसी दौर में बांग्ला उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद बड़ी मात्रा में देखे जा सकते हैं। डॉ. राम चन्द्र तिवारी लिखते हैं, "हिन्दी में उपन्यास रचना की प्रेरणा बंगला-साहित्य से प्राप्त हुई। भारतेन्दु युगीन हिन्दी उपन्यासों पर विचार करते हुए आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है- 'नाटक और निबंधों की ओर विशेष झुकाव रहने पर भी बंग भाषा की देखा-देखी नये ढंग के उपन्यासों की ओर ध्यान जा चुका था। इस समय तक बंगभाषा में बहुत से अच्छे उपन्यास निकल चुके थे। अतः साहित्य के इस विभाग की शून्यता शीघ्र हटाने के लिए उनके अनुवाद आवश्यक प्रतीत हुए'। स्पष्टतः हिन्दी-लेखकों का ध्यान नये ढंग के उपन्यासों की रचना की ओर बंग भाषा की देखा-देखी आकृष्ट हुआ।"[12] स्पष्टतः हिन्दी में नए ढंग के उपन्यासों का लेखन बांग्ला उपन्यासों के अनुवाद से शुरू हुआ था। शुक्ल जी के अनुसार इसके पहले इस विभाग में शून्यता थी।

"इसमें संदेह नहीं कि 'भाग्यवती' की रचना (1877 ई.) के पूर्व ही बँगला में सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों ही प्रकार के कई उपन्यास लिखे जा चुके थे। भवानी चरण बंद्योपाध्याय का 'नवबाबू विलास' (1825 ई.) और टेकचंद ठाकुर (1814-83 ई.) का 'आलालेर घरेर दुलाल' (1857 ई.) बँगला में बहुत ही लोकप्रिय हुए थे। किशोरी लाल गोस्वामी (1865-1932 ई.) के 'चपला' उपन्यास (1903 ई.) पर 'नवबाबू विलास' की छाया स्पष्टतः। ऐतिहासिक उपन्यासों के क्षेत्र में बँगला में बंकिम बाबू को आशातीत सफलता प्राप्त हुई थी। उनके तीन उपन्यास 'दुर्गेश नंदिनी' (1869 ई.), 'मृणालिनी' (1869 ई.), 'युगलांगुरीय' (1874 ई.) क्रमशः 1873 ई., 1880 ई. और 1880 ई., में हिन्दी में अनूदित हुए थे। किशोरी लाल गोस्वामी के ऐतिहासिक उपन्यासों पर बंकिम बाबू का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।"[13]

हिन्दी कथाकारों को उपन्यास रचना की प्रेरणा प्रत्यक्ष रूप से बँगला उपन्यासों से प्राप्त हुई थी। उल्लेखनीय है कि इस शुरुआती दौर में बड़ी संख्या में बँगला से हिन्दी में उपन्यास साहित्य का आयात हुआ जबकि भाषा के कथ्य और शिल्प का स्वरूप स्थिर होना अभी शेष

---

[12] तिवारी, डॉ. रामचन्द्र, *हिन्दी का गद्य-साहित्य*, पृ. 146

[13] वही, पृ. 146-147

था। शुक्ल जी बांग्ला उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद के भाषाई स्वरूप पर चिंता व्यक्त करते हुए लिखते हैं "अधिकांश अनुवादक प्रायः भाषा का ठीक हिन्दी रूप देने में असमर्थ रहे। कहीं-कहीं तो बँगला के शब्द और मुहावरे तक ज्यों के त्यों रख दिए जाते थे।– जैसे, 'काँदना', 'सिहरना', 'धू-धू करके आग जलना', 'छल-छल आंसू गिराना' इत्यादि।"[14] पर शुक्ल जी स्वीकार करते हैं कि बांग्ला उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद के प्रभावस्वरूप हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक और ऐतिहासिक विषयों पर स्वतंत्र उपन्यास लेखन की प्रवृत्ति पैदा हुई। उनका मत है, "इन अनुवादों से बड़ा भारी काम यह हुआ कि नए ढंग के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के ढंग का अच्छा परिचय हो गया और स्वतंत्र उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति और योग्यता उत्पन्न हो गई।"[15]

स्पष्टतः हिन्दी उपन्यास, जो आगे चलकर उपनिवेशवाद विरोधी चेतना का संवाहक बना, उसको दिशा देने में बांग्ला उपन्यासों के हिन्दी अनुवादों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। आचार्य शुक्ल ने लिखा है, "बँगला के उत्कृष्ट सामाजिक, पारिवारिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के लगातार आते रहने से रुचि परिष्कृत होती रही, जिससे कुछ दिनों की तिलस्म, ऐयारी और जासूसी के उपरांत उच्च कोटि के सच्चे साहित्यिक उपन्यासों की मौलिक रचना का दिन भी ईश्वर ने दिखाया।"[16] उच्च कोटि के सच्चे साहित्यिक उपन्यासों से तात्पर्य युगबोध की चेतना के अनुसार लिखे गए उपन्यासों से है, जब हिन्दी उपन्यास भारतीय स्वाधीनता आंदोलन की चेतना को अभिव्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम बनने की ओर अग्रसर होने लगा। निस्संदेह इसकी जमीन बांग्ला उपन्यासों के हिन्दी अनुवादकों ने तैयार की थी।

संस्कृत से हिन्दी अनुवाद

उन्नीसवीं सदी के भारतीय नवजागरण में संस्कृत से हुए अनुवादों की भूमिका युगांतरकारी रही। यूरोप में प्रबोधन और पुनर्जागरण के मूल में जो भूमिका ग्रीक और लैटिन भाषाओं से हुए अनुवादों की मानी जाती है, वही भूमिका भारतीय नवजागरण और हिन्दी नवजागरण के उद्भव और विकास में संस्कृत की रही। ऐसा प्रतीत होता है मानो यूरोपीय श्रेष्ठता को कायम करने के लिए दी गई प्राच्यवादी स्थापनाओं के जवाब में खोज-खोजकर संस्कृत ग्रन्थों

---

[14] शुक्ल, रामचन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृ. 312

[15] वही, पृ. 312

[16] वही, पृ. 337

के अनुवाद किए गए, और यह सिद्ध करने की कोशिश की गई कि भारत में अंग्रेजी राज के आने से पहले भी प्राचीन काल से ही सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना, इतिहास बोध और प्रगतिशील चिन्तन का दौर रहा है।

डॉ. रामविलास शर्मा अपनी पुस्तक *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ* में भारतेन्दु युग के नवीन साहित्य-जागरण को अंग्रेजी राज और अंग्रेजी भाषा की प्रेरणा मानने से असहमति प्रकट करते हुए लिखते हैं, "उसके बाद राजा लक्ष्मण सिंह के शकुंतला नाटक को भारतेन्दु ने हिन्दी का दूसरा नाटक बताया है। यद्यपि यह नाटक अनुवाद था, पर भाषा की शुघराई और मिठास के कारण हिन्दी में इसे मौलिक रचना की-सी ख्याति मिली। हिन्दी नाटकों के प्रारंभिक विकास में संस्कृत पुस्तकों का अनुवाद होना महत्त्व की बात है। इससे इस भ्रांत धारणा का खंडन होता है कि भारतेन्दु-युग का नवीन साहित्य-जागरण अंग्रेज और अंग्रेजी की प्रेरणा से हुआ।"[17]

डॉ. रामविलास शर्मा हिन्दी नवजागरण की चेतना से युक्त भारतेन्दु युग के नवीन साहित्य बोध के पीछे प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद को उत्तरदायी ठहराते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के नाट्य लेखन पर टिप्पणी करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा आगे लिखते हैं, "संस्कृत के पुराने रूप लेकर भारतेन्दु नये दृष्टिकोण से उनका सजीव उपयोग कर सके, यह उनकी प्रतिभा का भी प्रमाण है और उन पुराने रूपों की सजीवता का भी।"[18] अठारहवीं सदी में विलियम जोन्स ने कालिदास के संस्कृत नाटक *अभिज्ञानशाकुंतलम* का सबसे पहले लैटिन भाषा में अनुवाद किया था। बाद में उन्होंने सन् 1789 में *अभिज्ञानशाकुंतलम* के लैटिन अनुवाद का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया और इसकी भूमिका में जोन्स ने 'कालिदास को भारत का शेक्सपियर' कहा। जोन्स के इस अनुवाद को यूरोप के साहित्य जगत में अभूतपूर्व ख्याति मिली।

रमण प्रसाद सिन्हा ने लिखा है, "जोन्स के इस अनुवाद ने पूरे यूरोप का ध्यान शकुंतला की ओर आकर्षित किया। लगभग सारी यूरोपीय भाषाओं में इसका अनुवाद हुआ। कहा जाता है कि 19वीं शताब्दी के प्रायः हर एक दशक में इस नाटक का एक और भाषा में एक और

---

[17] शर्मा, रामविलास, *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ,* पृ. 111

[18] वही पृ. 112-113

अनुवाद हुआ था। इस नाटक की लोकप्रियता के पीछे का कारण शकुंतला को 'प्रकृति की पुत्री' के रूप में प्रस्तुत करना था जो स्पष्टतः यूरोपीय स्वच्छंदतावाद विशेषकर जर्मन स्वच्छंदतावाद को रास आ रहा था।"[19] जोन्स के बाद मोनियर विलियम्स ने *अभिज्ञान शाकुंतलम* का पद्यानुवाद किया था। पर जोन्स और मोनियर विलियम की अनुवाद दृष्टि में भेद था। जोन्स की 'प्राच्य पुनर्जागरण की शुरूआती जिज्ञासा का भाव' मोनियर विलियम्स तक आते-आते ब्रिटिश औपनिवेशिक नियंत्रण की दृष्टि से परिचालित होने लगता है। ध्यान देने योग्य बात यह है कि जोन्स की बजाए मोनियर विलियम्स के अनुवाद को प्रामाणिक मान लिया गया।

भले ही ब्रिटिश अध्येता भारत के अतीत की ओर इसलिए उन्मुख हुए थे कि वे अनुवादों के जरिए भारतीयों में इस अतीत के बारे ब्रिटिश नीतियों के अनुकूल 'दृष्टि' विकसित कर सकें। पर नवजागरण कालीन लेखक इस अतीत की समृद्धि से अभिभूत हो थे, और इसी के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य के निर्माण-काल में संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों के अनुवाद की एक सुदीर्घ परंपरा का सूत्रपात हुआ। इस अभिभूत होने के पीछे का कारण परवर्ती प्राच्यविदों के द्वारा भारतीय अतीत के प्रति ब्रिटिश राज के अनुकूल 'दृष्टि' निर्माण के मिशन का विरोध ही था। भारतेन्दु इस अभियान के अग्रदूत थे। उन्होंने न केवल स्वयं अनुवाद किया बल्कि अपने समकालीन लेखकों को भी इसके लिए प्रेरित किया। अनुवाद के इस भारी उद्यम से हिन्दी भाषा में संस्कृत पदावली के समावेश का मार्ग भी प्रशस्त होता गया। भाषा के स्वरूप में यह परिवर्तन भारतेन्दु युग के मौलिक नाटकों की भाषा में देखा जा सकता है। हालांकि, यह प्रभाव बांग्ला और संस्कृत दोनों भाषाओं से आया।

शुक्ल जी लिखते हैं, "बंगभाषा की ओर जो झुकाव रहा उसके प्रभाव से बहुत ही परिमार्जित और सुंदर संस्कृत पदविन्यास की परंपरा हिन्दी में आई, यह स्वीकार करना पड़ता है।"[20]

इतिहास के इस कालखण्ड में हिन्दी के भाषाई स्वरूप को लेकर राजा लक्ष्मण सिंह और राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द दो अलग-अलग आदर्शों के साथ आगे बढ़े। शुक्ल जी लिखते हैं, "गद्य की भाषा को लेकर खींचतान आरंभ हुई। इसी खींचतान के समय में राजा लक्ष्मण सिंह

---

[19] सिन्हा, रमण, *अनुवाद और रचना का उत्तर-जीवन,* पृ. 39

[20] शुक्ल, रामचन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृ. 336

और राजा शिवप्रसाद मैदान में आए।"[21] राजा लक्ष्मण सिंह ने सन् 1861 में *अभिज्ञानशाकुंतलम* का अनुवाद बहुत ही सरस और विशुद्ध हिन्दी में किया। 'निज भाषा उन्नति अहै' को अपना आदर्श मानने वाले भारतेन्दु ने राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा के स्वरूप को मान्यता दी और उसका अनुसरण किया।

भारतेन्दु ने संस्कृत से श्री हर्ष कृत *रत्नावली* (सन् 1868 में शुरुआत परंतु अपूर्ण) का हिन्दी अनुवाद किया। कृष्ण मिश्र के *प्रबोध चंद्रोदय* का *पाखण्ड विडंबन* (सन् 1872-73) नाम से अनुवाद किया। कांचन पंडित के *धनंजय विजय* (सन् 1875) का अनुवाद किया। महाकवि विशाख के *मुद्राराक्षस* (सन् 1875) का अनुवाद किया। और आगे चलकर उन्होंने राजशेखर की प्राकृत रचना का *कर्पूरमंजरी* (सन् 1875) नाम से अनुवाद किया। *रत्नावली* नाटिका की भूमिका में भारतेन्दु ने लिखा था कि *शकुंतला* के सिवाय और सब नाटकों में *रत्नावली* नाटिका बहुत अच्छी और पढ़ने वालों को आनंद देने वाली है। भारतेन्दु लिखते हैं "हिन्दी भाषा में जो सब भाँति की पुस्तकें बनने के योग्य हैं अभी वे बहुत कम बनी हैं विशेषकर के नाटक तो (कुंवर लक्षमण सिंह के शकुंतला के अलावा सिवाय) कोई भी ऐसे नहीं बने हैं जिनको पढ़ के कुछ चित्त को आनंद और इस भाषा का बल प्रकट हो; इस वास्ते मेरी इच्छा है कि चार नाटकों का तर्जुमा हिन्दी में हो जाए तो मेरा मनोरथ सिद्ध हो।"[22] इस अनुवाद पीछे उनका एक निश्चित उद्देश्य था, वे पाठकों की रुचि का ध्यान रखकर इस ओर प्रवृत्त हुए थे।

"भारतेन्दु साहित्य के रिक्त भंडार को अनुवाद से भरने के कौशल से परिचित थे। उन्होंने न सिर्फ अपने को इस काम में लगाया बल्कि अपने मित्रों-सहयोगियों को भी आगे आने के लिए प्रोत्साहित किया। शीतला प्रसाद ने 1879 में कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध चंद्रोदय नाटक' का तथा देवदत्त तिवारी ने भवभूति के 'उत्तररामचरित' का 1871 में अनुवाद किया। दुबे नंदलाल विश्वनाथ ने भी 1886 ई. में 'उत्तररामचरित' और 'शकुंतला' का अनुवाद प्रस्तुत किया। आगे चलकर लाला सीताराम ने भी भवभूति की कई नाट्य-कृतियों-महावीर चरित (1897) उत्तररामचरित (1897) मालती माधव (1898) शुद्रक का 'मृच्छकटिक' (1899) एवं हर्षदेव कृत नागानंद (1900) को भी खड़ी बोली में अनूदित किया। रामेश्वर भट्ट ने भी श्री हर्ष के

---

[21] वही, पृ. 299

[22] शर्मा, हेमंत (सम्पा.), *भारतेन्दु समग्र,* पृ. 300

'रत्नावली' को 1895 में तथा इसी नाटक को बालमुकुंद गुप्त ने 1898 में अनूदित किया। कालांतर में 'रामायण', 'हरिवंश पुराण', 'शिव पुराण', 'विघ्ननारदीय पुराण' 'कथासरित्सागर', 'हितोपदेश' के अतिरिक्त अश्वघोष, पंडितराज जगन्नाथ, जयदेव, जिनसेन सूरी, नीलकंठ पुष्पदंत भट्टि, भर्तृहरि, भारवि, माघ, विल्हण, बाणभट्ट, भास, रामदास, बाधिचंद्र सूरि, हरिहर उपाध्याय, हृदयराम कवि, दंडी, विष्णु शर्मा, वल्लात, कुसुम देव को भी अनूदित किया गया।"[23]

शुक्ल जी के अनुसार "संस्कृत के नाटकों के अनुवाद के लिए रायबहादुर लाला सीताराम बी. ए. सदा आदर के साथ स्मरण किए जाएंगे। भारतेन्दु की मृत्यु से दो वर्ष पहले ही उन्होंने संस्कृत काव्यों के अनुवाद में लग्गा लगाया और सं. 1940 में मेघदूत का अनुवाद घनाक्षरी शब्दों में प्रकाशित कराया। इसके उपरांत वे बराबर किसी-न-किसी नाटक का अनुवाद करते रहे। सं. 1944 में उनका 'नागानंद' का अनुवाद निकला। फिर तो धीरे-धीरे उन्होंने मृच्छकटिक, महावीरचरित, उत्तररामचरित, मालतीमाधव, मालविकाग्निमित्र, का भी अनुवाद कर डाला।...उनकी हिन्दी बहुत सीधी-सादी, सरल और आडंबरशून्य है। संस्कृत का भाव उसमें इस ढंग से लाया गया है कि कहीं संस्कृतपन या जटिलता नहीं आने पाई है।"[24] भारतेन्दु युग में पंडित ज्वालाप्रसाद मिश्र द्वारा पुराणों का हिन्दी अनुवाद किया गया था। शुक्ल जी के अनुसार इन्होंने *वेणीसंहार* और *अभिज्ञानशाकुंतलम* का अनुवाद भी किया था।

निस्संदेह उपर्युक्त अनुवादों के माध्यम से पराधीन भारतीय जनसमुदाय को उनके गौरवशाली अतीत का स्मरण कराया जा रहा था। ब्रिटिश राज में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अंग्रेजी पढ़ा-लिखा भारतीयों का एक वर्ग पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान के आगे नतमस्तक हो रहा था, और उसके मुक़ाबले भारतीय संस्कृति को पौराणिक और अवैज्ञानिक बता रहा था। ऐसे समय में ये अनुवाद इस सांस्कृतिक नमन बोध के विरुद्ध एक सांस्कृतिक प्रतिरोध के रूप में सामने आते हैं। इस सांस्कृतिक प्रतिरोध का पश्चिम के तथाकथित 'श्रेष्ठताबोध' से बुनियादी अंतर्विरोध था। इन प्रभावों के अतिरिक्त हिन्दी अनुवादों के माध्यम से संस्कृत साहित्य की वैभवशाली परंपरा का हिन्दी साहित्य की सभी विधाओं पर गहरा

---

[23] सिन्हा, रमण, *अनुवाद और रचना का उत्तर-जीवन,* पृ. 42

[24] शुक्ल, रामचन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृ. 336

प्रभाव पड़ा। इतिहास का यह दौर खड़ी बोली के उद्भव और विकास का काल था, और उपर्युक्त अनुवादों का भाषा और साहित्य की इस विकास-यात्रा पर भी निर्णायक प्रभाव पड़ा।

अंग्रेजी से हिन्दी अनुवाद

भारतेन्दु युग में अंग्रेजी से हिन्दी में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों स्तरों पर अनुवाद हुआ। जहाँ एक ओर अंग्रेजी से सीधे हिन्दी में अनुवाद हुआ वहीं परोक्ष रूप से पहले मूल अंग्रेजी से बांग्ला में अनुवाद हुआ, और फिर बांग्ला अनुवाद का हिन्दी अनुवाद हुआ। "भारतीय नवजागरण में संस्कृत एवं अँग्रेजी से हुए अनुवादों की वही भूमिका थी जो यूरोपीय पुनर्जागरण के संदर्भ में ग्रीक और लैटिन के अनुवादों की थी।"[25]

न केवल यूरोप में बल्कि भारतीय नवजागरण के दौरान नवीन चेतना और 'बुद्धिवाद' के पीछे अनुवाद की ऐतिहासिक भूमिका रही है। यूरोप के पुनर्जागरण में ग्रीक और लैटिन के अनुवादों को प्रमुख कारक माना जाता है। भारतीय संदर्भ में यही विचार अंग्रेजी और संस्कृत के अनुवादों पर सटीक बैठता है। रमण सिन्हा लिखते हैं, "भारतीय नवजागरण में संस्कृत एवं अंग्रेजी के अनुवादों की एक समान भूमिका कहीं उस प्रवृत्ति का प्रतिफलन तो नहीं जिसे इतिहासकारों ने दुचित्तेपन (Ambivalence) की प्रवृत्ति कहा है। क्या यह महज संयोग है कि खड़ी बोली के आदिकाल में सिर्फ अंग्रेजी से अनुवाद करने वाले या सिर्फ संस्कृत से अनुवाद करने वाले कोई महत्त्वपूर्ण अनुवादक नहीं दिखाई पड़ते? भारतेन्दु ने अगर...संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद किया, तो शेक्सपियर के 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' को भी अनूदित किया। लाला सीताराम जिन्होंने सन् 1885 से 1915 के बीच शेक्सपियर के ग्यारह नाटक अनूदित किए; भवभूति 'महावीर चरित' (1897), 'उत्तररामचरित' (1897), 'मालती माधव' (1898), कालिदास के 'मेघदूत' (1883) 'कुमार संभव' (1884), 'रघुवंश' (1886), 'मालविकाग्निमित्र' (1898), शुद्रक के 'मृच्छकटिक' (1899) एवं हर्षदेव के 'नागानंद' (1900) के भी अनुवादक हैं... क्या यह दो विजातीय परम्पराओं में संतुलन स्थापित करने का प्रयास था या तथा कथित 'भावबोध की कष्टकर विच्छिन्नता का प्रतिफलन'? जो भी हो

---

[25] सिन्हा, रमण, *अनुवाद और रचना का उत्तर-जीवन,* पृ. 37

इतना तो तय है कि खड़ी बोली की आरंभिक अनूदित साहित्यिक प्रणाली में नवजागरण की सारी प्रवृत्तियाँ और अंतर्विरोध दर्ज हैं।"[26]

खड़ी बोली के विकास में अनुवाद की केन्द्रीय भूमिका थी। हिन्दी भाषा के निर्माण-काल में भारतेन्दु युग के अनुवादकों ने बांग्ला, संस्कृत और अंग्रेजी तीनों भाषाओं से बड़ी संख्या में अनुवाद किए। जिसे रमण प्रसाद सिन्हा अंतर्विरोध कह रहे हैं वह दरअसल एक युवा साहित्यिक प्रणाली के ज्ञान वर्धन का स्वाभाविक उद्यम था। इसीलिए भारतेन्दु युग के अनुवादक अनुवाद के लिए सभी भाषाओं के उपलब्ध साहित्य की ओर उन्मुख हुए और हिन्दी गद्य की नवीन विधाओं का सूत्रपात लगभग एक ही कालखण्ड में संभव हुआ। इस बारे में जार्ज लुकाच का कथन महत्त्वपूर्ण है कि 'हमारी साहित्यिक आवश्यकताएँ ही साहित्यिक आयात (अनुवाद) को तय करती हैं'। भारतेन्दु युग में यह साहित्यिक आयात बड़ी मात्रा में हुआ और इसने खड़ी बोली की विभिन्न विधाओं में राष्ट्रीय चेतना के स्वर को एक प्रवृत्ति के रूप में स्थापित करने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई।

अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में दुनिया भर में साहित्य, संगीत, कला, विज्ञान, दर्शन, इतिहास आदि को लेकर एक नवीन दृष्टि विकसित हुई। इस आधुनिक दृष्टि का निर्माण ठोस बुद्धिवादी धरातल पर हुआ। भारत में भी देर-सबेर यह नई जागृति कई माध्यमों से पहुंची। जहाँ एक ओर आधुनिक शिक्षा प्राप्त भारतीयों का एक वर्ग इसका माध्यम बना वहीं दूसरी अंग्रेजी राज द्वारा किए गए परिवर्तन इसका आधार बने। इन सबके परिणामस्वरूप भारत में इन विषयों पर व्यापक लेखन हुआ। इस लेखन ने दुनिया भर में हो रही बौद्धिक क्रान्ति को भारत की विभिन्न भाषाओं में पहुंचाया। चूंकि, मैकाले की नई शिक्षा पद्धति देश में लागू हो चुकी थी। इसलिए अंग्रेजी पढ़ा-लिखा एक बड़ा वर्ग इस बौद्धिक क्रान्ति से संवाद करने के लिए व्यग्र था। इस वर्ग ने कई स्तरों पर भारत का पक्ष रखते हुए विश्व के सामने भारत में हो रहे अंग्रेजी राज के शोषण के स्वरूप को सार्वजनिक किया। अंग्रेजी भाषा और साहित्य भी इस संवाद की परिधि में शामिल था।

आधुनिक चेतना से लैस भारतीय लेखकों और अनुवादकों ने यह दिखाने का प्रयास किया कि कैसे अंग्रेज़ अपने देश में तो उच्च मानवीय आदर्शों और विश्व बंधुत्व का डंका पीट रहे हैं। पर भारत में ब्रिटिश नीति इसके ठीक विपरीत है। यह नितांत रूप से अमानवीय है। ब्रिटिश प्रशासकों की मूल भावना कल्याणकारी राज्य के नाम पर औपनिवेशिक नीतियों को लागू

---

[26] वही, पृ. 38

करने की है। अंग्रेजी की श्रेष्ठ कृतियों का अनुवाद इसलिए भी किया गया कि भारतीय यह जान सकें कि अंग्रेजों की कथनी और करनी में फर्क है। रमेश चंद्र दत्त और दादा भाई नौरोजी जैसे बुद्धिजीवियों ने अंग्रेजी राज के दोहरे चरित्र को उजागर करते हुए नई-नई अवधारणाएँ दीं। नौरोजी और दत्त के विचारों से प्रभावित होकर हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में लेख लिखे जाने लगे। इनके अनुवाद हुए और मौलिक रचनाएँ की गईं। इन सबसे पूरे देश में ब्रिटिश राज के औपनिवेशिक स्वरूप की पहचान हुई और राष्ट्रीय चेतना का प्रसार हुआ।

दादा भाई नौरोजी ने सन् 1867 में 'धन का बहिर्गमन सिद्धान्त' (Drain of wealth) दिया था। दादा भाई नौरोजी ने इसमें बताया था कि कैसे भारत की संपदा और पूंजी ब्रिटेन जा रही है। ब्रिटेन इसका उपयोग अपने देश के विकास में कर रहा है। पर बदले में भारत को कुछ भी नहीं मिल रहा है। नौरोजी के इन्हीं विचारों का आत्मसातीकरण करते हुए भारतेन्दु ने अपने साहित्य में कई जगह मुखर रूप में और कई जगह 'राजभक्ति' की आड़ में अंग्रेजी राज के कुप्रभावों के बारे में लिखा और देश-हित की बात की। भारतेन्दु की कई पंक्तियाँ इसका उदाहरण हैं।, जैसे, *'जो भारत जग में रह्यो सबसों उत्तम देश ताही भारत में रह्यो अब नहीं सुख को लेस'*, *'भीतर-भीतर सब रस चूसै बाहर से तन मन धन मूसै'*, *'अंधांधुंध मच्यो सब देसा, मानहुं राजा रहत बिदेसा'* और सबसे बढ़कर *'अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी। पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख़्वारी'।*

भारतेन्दु की ये पंक्तियाँ 'आत्मसातीकरण' की ही देन हैं। 'धन बहिर्गमन' का विचार दादा भाई नौरोजी ने एक अंग्रेजी लेख में दिया था। इन्हीं विचारों को आत्मसात करके भारतेन्दु ने अपने नाटक में इसकी पुनर्प्रस्तुति की और लिखा *'पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख़्वारी'। यह* शब्दानुवाद न होकर नौरोजी के मूल भावों का काव्यानुवाद था।

प्रो. देवशंकर नवीन लिखते हैं, "भारत के उपनिवेशीकरण के अभियान में फिरंगियों द्वारा अनुवाद पर किया गया श्रम और हिन्दी नवजागरण के अग्रदूतों तथा स्वाधीनता आंदोलन के दौरान राष्ट्रवादी अवधारणा से अभिभूत भारतीय विभूतियों का अनुवाद के क्षेत्र में दिया गया अवदान निश्चय ही सत्ता-विमर्श को रेखांकित करता है।"[27]

---

[27] नवीन, देवशंकर, *अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य,* पृ. 139

इतिहास के प्रायः सभी युगों में अनुवाद से सत्ता-विमर्श का गहरा नाता रहा है। इतिहास के लगभग सभी विस्तारवादी साम्राज्य शासितों पर अपने वर्चस्व को बनाए रखने तथा उनकी भाषा और संस्कृति के अनुकूलन हेतु अनुवाद का आश्रय लेते रहे हैं ताकि वे अपने शासन को चिर स्थायी बना सकें। "वस्तुतः स्वाधीनता आंदोलन के दौरान अंग्रेजी और संस्कृत के ग्रंथों का विभिन्न भारतीय भाषाओं में तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं की रचनाओं का आपस में अनुवाद बड़े पैमाने पर हुआ। फिरंगियों द्वारा अनुशासित अनुवाद उद्यम में भारतीय मानस को समझने और शासकीय मंशे से उसकी नब्ज पकड़ने का प्रयास था; उसमें भारत की अनूदित अस्मिता को प्रामाणिक बनाने की चेष्टा थी; और भारतीय नागरिकों को इतिहास विहीन, संस्कृति-परंपरा विहीन साबित करने की दानवीय चेष्टा थी। पर भारतीय चिन्तन धारा को इतनी आसानी से तो खारिज किया नहीं जा सकता था। राजाराम मोहन राय, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र महावीर प्रसाद द्विवेदी, प्रेमचंद, रामचन्द्र शुक्ल, बाबूराव विष्णु पराड़कर, आरसी दत्त आदि जब अनुवाद के क्षेत्र में अपने कौशल से उतरे और देशदशा, आधुनिक चिन्तन और ज्ञान-विज्ञान से भारतीय समाज को परिचित कराना शुरू किया, तो उपनिवेशवादियों के यूरोप केन्द्रित अनुवाद में व्यक्त धारणाओं की कलई खुलने लगी। यह भारत की दृष्टि से अनुवाद का देशीय सत्ता-विमर्श था।"[28]

प्रो. देवशंकर नवीन जिस देशीय सत्ता-विमर्श का जिक्र करते हैं हिन्दी साहित्य में उसका आरंभ भारतेन्दु युग में ही हुआ था। पर भारतीय नवजागरण के उन्नायकों राजाराम मोहन राय और ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने इसकी पृष्ठभूमि उन्नीसवीं के पूर्वार्द्ध में ही तैयार कर दी थी। भारतीय समाज सुधारकों में राजाराम मोहन राय का नाम सबसे प्रमुख है। इनके बुद्धिवादी आग्रह और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण ईसाई मिशनरियाँ और हिन्दू कट्टरपंथी दोनों इन्हें पसंद नहीं करते थे। सन् 1803 में राजाराम मोहन राय ईस्ट इंडिया कंपनी के राजस्व विभाग में बंगाल के एक अधिकारी जॉन डिग्बी के अधीन काम करते थे। यहीं पर इन्होंने यूरोप से आने वाली पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं का अध्ययन किया था और उससे अत्यंत प्रभावित हुए थे। यूरोप की राजनीतिक विचारधारा से उनका परिचय यहीं हुआ। सन् 1814 में इन्होंने ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी छोड़ दी और उनका समाज सुधारक व्यक्तित्व इसके बाद ही सामने आया।

---

[28] वही, पृ. 139

सन् 1815 में राजाराम मोहन राय ने 'आत्मीय सभा' की स्थापना की और इसी के आस-पास *वेदान्त सूत्र* का बांग्ला में अनुवाद किया। आगे चलकर इन्होंने अनेक वैदिक ग्रन्थों और उपनिषदों का बांग्ला और अंग्रेजी में अनुवाद किया। बांग्ला गद्य के विकास में इनके अनुवादों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। बंकिम चन्द्र चटर्जी और रवीन्द्र नाथ टैगोर के बांग्ला गद्य पर इनकी लेखन शैली का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। वेदों के बांग्ला और अंग्रेजी अनुवाद के माध्यम से राजाराम मोहन राय ने यह दिखाने का प्रयास किया कि वैदिक कालीन समाज कितना प्रगतिशील था। सती प्रथा, विधवा प्रथा और हिन्दू धर्म की अनेक कुरीतियों के खंडन के लिए इन्होंने वेदों और उपनिषदों के अनुवाद के माध्यम से अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए। इन अंग्रेजी अनुवादों की देश-भर में व्यापक चर्चा हुई। भारतेन्दु युग के लेखन में प्राचीन इतिहास और संस्कृति का गुणगान, हिन्दू धर्म के दुराग्रहों, स्त्रियों की सामाजिक दशा, स्त्री शिक्षा आदि के प्रति जो चिंता जाहिर हुई है उसका वैचारिक उत्स भारतीय नवजागरण ही है। इसके मूल में राजाराम मोहन राय के द्वारा किए वेदों और उपनिषदों के अंग्रेजी और बांग्ला अनुवादों की केन्द्रीय भूमिका रही होगी। हिन्दी नवजागरण कालीन लेखकों का सामाजिक-सांस्कृतिक बोध ज्ञान की इसी परंपरा के आत्मसातीकरण के साथ आगे बढ़ा। हिन्दी ज्ञान-परंपरा के विकास के क्रम में इस दौर में अंग्रेजी के कई ग्रन्थों के अनुवाद हुए। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने विलियम शेक्सपियर के प्रसिद्ध नाटक *मर्चेंट ऑफ वेनिस* (सन् 1596-97) का *दुर्लभ बंधु* या *वंशपुर का महाजन* (सन् 1880) नाम से हिन्दी अनुवाद किया। इस अनुवाद में भारतेन्दु ने परिवेश और पात्रों का भारतीयकरण कर दिया है। इस अनुवाद का नवजागरण कालीन परिवेश में राष्ट्रीय जागरण के संदर्भ में विशेष सांस्कृतिक महत्त्व है।

भारतेन्दु पर अंग्रेजी के प्रभाव के बारे में डॉ. विश्वनाथ मिश्र लिखते हैं, "किंतु उनकी रचनाओं में जो अंग्रेजी प्रभाव आया है वह सीधा अंग्रेजी साहित्य से उतना गृहीत न होकर बँगला नाटकों से प्राप्त अधिक प्रतीत होता है।"[29]

डॉ. विश्वनाथ मिश्र का यह भी मानना है कि *भारत जननी, नील देवी* और *सती प्रताप* अंग्रेजी 'ओपेरा' के प्रभाव में रचित हैं, *भारत दुर्दशा* पर 'दुःखांतिकी शैली' का प्रभाव है, और *प्रेम योगिनी* पश्चिम की 'यथार्थवादी दृष्टि' से प्रभावित है।

---

[29] मिश्र, डॉ. विश्वनाथ, *हिन्दी नाटक का पाश्चात्य प्रभाव,* पृ. 69

सर्वप्रथम डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने *रत्नावली* की भूमिका में भारतेन्दु के नाट्य लेखन को अंग्रेजी नाटकों की प्रेरणा से रचित माना है। डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार, "डॉक्टर लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय ने 'रत्नावली' की भूमिका में लिखा है कि हिन्दी में नाटक रचना के लिए संस्कृत साहित्य के अध्ययन के अलावा अंग्रेजी साहित्य से प्रोत्साहन मिला और अंग्रेजों ने यहां जो नाटक घर बनाए थे, उनसे प्रेरणा मिली।"[30] डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के विचार से असहमति प्रकट करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा आगे लिखते हैं, "भारतेन्दु के नाटकों पर संस्कृत और बँगला का प्रभाव तो दिखाई देता है, लेकिन अंग्रेजी-प्रभाव उन पर कहां तक पड़ा है, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण अभी नहीं मिला।"[31] यद्यपि डॉ. रामविलास शर्मा का इस विषय में निश्चित मत नहीं है। पर भारतेन्दु पर बांग्ला के माध्यम से परोक्ष रूप से अंग्रेजी नाटकों की भाषा और शैली का प्रभाव देखा जा सकता है। भारतेन्दु ने सीधे तौर पर विलियम शेक्सपियर के सिर्फ एक अंग्रेजी नाटक का हिन्दी अनुवाद किया था, संभवतः इसीलिए डॉ. रामविलास शर्मा यह मानते हैं कि भारतेन्दु के नाट्य लेखन पर अंग्रेजी प्रभाव का प्रमाण नहीं मिलता।

"शेक्सपियर के आरंभिक अनुवादकों में लाला सीताराम का नाम सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने 1885 से 1915 ई. के बीच शेक्सपियर के 'भूलभुलैया' (कॉमेडी ऑफ एरर्स), 'अपनी-अपनी रुचि' (एज यू लाइक इट), 'प्रेम परिणाम' (रोमियो एंड जूलियट), 'मनमोहन का जाल' (मच एडो अबाउट नथिंग), 'जंगल में मंगल' (द टेम्पेस्ट), 'राजा लियर' (किंग लियर), 'राजा हेनरी पंचम' (हेनरी फिफ्थ), 'सिम्बेलीन' (सिम्बेलीन), 'राजा जुलियस' (जुलियस सीजर), 'डेनमार्क का राजकुमार' (हेमलेट), 'ओथेलो' (ओथैलो), 'बगुला भगत' (मेजर फॉर मेजर) शीर्षक से अनुवाद प्रस्तुत किया।"[32]

सन् 1879 में तोताराम वर्मा ने जोसेफ एडिसन के नाटक *केटो* का *केटो वृत्तान्त* नाम से महत्त्वपूर्ण अनुवाद किया। कुछ विद्वान भारतेन्दु के *दुर्लभ बंधु* को अंग्रेजी से अनूदित होने वाली प्रथम कृति मानते हैं तो कुछ तोताराम वर्मा के *केटो वृत्तान्त* को। दोनों ही अनुवाद

---

[30] शर्मा, रामविलास, *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ,* पृ. 112

[31] वही, पृ. 112

[32] सिन्हा, रमण, *अनुवाद और रचना का उत्तर-जीवन,* पृ. 43

राष्ट्रीय मुक्ति के वृहत्तर संदर्भों में महत्त्वपूर्ण हैं। *केटो वृत्तान्त* की विषयवस्तु स्वाधीनता और देशप्रेम है। दोनों अनुवाद युगीन राष्ट्रीय चेतना को ध्यान में रखकर किए गए।

इस युग में शेक्सपियर के प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण नाटकों का हिन्दी अनुवाद हुआ। भारतीय संस्कृत नाट्य परंपरा में सुखांत नाटकों की परिपाटी के अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित होने के कारण आरंभ में शेक्सपियर के सुखांत नाटकों का ही अनुवाद अधिक हुआ। पर बाद में दुखांत नाटक भी अनूदित हुए। लाला श्रीनिवास दास ने सन् 1890 में रोमियो एंड जूलियट का *रणधीर और प्रेम मोहिनी* नाम से अनुवाद किया। पुरोहित गोपीनाथ ने सन् 1896 में *मनभावन (एज यू लाइक इट),* सन् 1897 में *प्रेमलीला (रोमियो एंड जूलियट)* नाम से शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद किया। मथुरा प्रसाद उपाध्याय ने सन् 1893 में *मैकबेथ* का *साहसेन्द्र साहस* नाम से अनुवाद किया, और गदाधर सिंह ने सन् 1894 में *औथेलो* का अनुवाद किया।

इस युग के अंग्रेजी उपन्यासों के अनुवाद के संबंध में रमण प्रसाद सिन्हा का मत है कि कालक्रम की दृष्टि से खड़ी बोली हिन्दी को इस नई साहित्यिक विधा उपन्यास से परिचय डेनियल डेफो (सन् 1660-1731) के अंग्रेजी *उपन्यास द लाइफ एंड स्ट्रेंज एंड सरप्राइजिंग एडवेंचर्स ऑफ रोबिन्सन क्रूसो* (सन् 1719) के हिन्दी अनुवाद से सन् 1860 ई. में हुआ। यह अनुवाद बनारस के एक प्रवक्ता पं. बद्रीलाल ने बांग्ला से किया था। *रोबिन्सन क्रूसो* उपन्यास में पहली बार व्यक्तिवाद, मध्य वर्ग एवं पूंजीवाद के उदय को सर्वथा नवीन अभिव्यक्ति मिली थी। इसलिए यह अनुवाद महत्त्वपूर्ण था। इसके बाद किसी ईसाई मिशनरी ने अपने धार्मिक प्रचार के अंतर्गत *पिलग्रिम्स प्रोग्रेस* (सन् 1676) का हिन्दी अनुवाद *यात्रा स्वप्नोदय* (सन् 1865) नाम से करवाया। गौरतलब है कि उस दौर में धार्मिक एजेंडे के तहत ईसाई मिशनरियाँ *बाइबिल* के अलावा *पिलग्रिम्स प्रोग्रेस* का भी अनुवाद करवाती थीं।

डब्ल्यू. एम. रेनाल्ड्स के अंग्रेजी उपन्यासों का अनुवाद उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बहुत लोकप्रिय हुआ। रेनाल्ड्स के उपन्यासों की कथावस्तु विशुद्ध मनोरंजन पर आधारित होती थी। इनके उपन्यासों में रहस्य और रोमांच का अतिरेक होता था। हिन्दी के आरंभिक उपन्यासों में रहस्य और रोमांच की जो प्रवृत्ति देखी गई, वह रेनाल्ड्स के उपन्यासों से प्रेरणा लेकर ही आगे बढ़ी थी। "हिन्दी में रेनाल्ड्स को लाने वाले वही लेखक थे जिन्होंने इस भाषा में तिलिस्मी-ऐय्यारी उपन्यासों की नींव डाली। यानी देवकी नंदन खत्री, हरिकृष्ण जौहर

एवं गंगा प्रसाद गुप्त। हरिकृष्ण जौहर ने रेनाल्ड्स के 'फाउस्ट' का अनुवाद 'नरपिशाच' (सन् 1901) शीर्षक से, देवकी नंदन खत्री ने 'लैला' का 'प्रवीण पथिक' के नाम से तथा गंगा प्रसाद गुप्त ने 'द यंग फिसरमेन' का 'किले की रानी' (सन् 1915) तथा 'लव्ज ऑफ हरम' को 'रंगमहल' शीर्षक से अनूदित किया।"[33] स्पष्टतः हिन्दी उपन्यास के उद्भव और विकास में रेनाल्ड्स के अनुवादों की प्रमुख भूमिका रही है। शुक्ल जी ने भी अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में रेनाल्ड्स का उल्लेख किया है। "अँगरेजी के दो ही चार उपन्यासों के अनुवाद देखने में आए- जैसे, रेनल्ड्स कृत 'लैला' और 'लंडन रहस्य।"[34]

अमृत राय ने *कलम का सिपाही* में लिखा है कि प्रेमचंद *लंदन रहस्य* उपन्यास के उत्साही पाठकों में से एक थे। मुल्क राज आनंद ने भी अपनी रचनाओं में रेनाल्ड्स का उल्लेख किया है। स्पष्टतः हिन्दी साहित्य में उपन्यास विधा पर आरंभिक बांग्ला और अंग्रेजी उपन्यासों का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। बांग्ला उपन्यासकारों को भी उपन्यास रचना की प्रेरणा अंग्रेजी साहित्य से ही प्राप्त हुई थी। *आलालेर घरेर दुलाल* की रचना हेनरी फीलि्डंग (सन् 1707-54) की रचना *टॉम जोन्स* (सन् 1749) के आदर्श पर हुई थी। स्वयं बंकिम बाबू के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों पर अंग्रेजी उपन्यासों का प्रभाव माना जाता है।

हिन्दी के आरंभिक उपन्यासकारों ने पश्चिमी विधा के रूप में अंग्रेजी के 'नॉवेल' की तर्ज पर उपन्यास लेखन की शुरुआत जरूर की थी। पर आगे चलकर इसकी अंतर्वस्तु नवजागरण कालीन चेतना से प्रेरणा ग्रहण करने लगी। आगे चलकर भारतेन्दु युग के लेखकों ने युगबोध के अनुरूप सामाजिक-सांस्कृतिक विषयों पर कई मौलिक उपन्यास लिखे। प्राचीन संस्कृति के 'आत्मसातीकरण' के माध्यम से अनुवाद ने हिन्दी उपन्यास के स्वरूप विस्तार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई और हिन्दी उपन्यास लेखन राष्ट्रीय मुक्ति के वृहत्तर संदर्भों से जुड़ता चला गया।

अनुवाद की प्रक्रिया में किए गए परिवर्तन और राष्ट्रीय चेतना

भारतेन्दु ने शेक्सपियर के नाटक *मर्चेन्ट ऑफ वेनिस* का अनुवाद करते समय इसका पूर्ण रूप से भारतीयकरण कर दिया था। ऐसा करने के पीछे भारतेन्दु की क्या मंशा रही होगी? इस

---

[33] वही, पृ. 52

[34] शुक्ल, रामचन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृ. 342

नाटक के भारतीयकरण का युगीन संदर्भों में क्या महत्त्व रहा होगा? न केवल इस नाटक बल्कि इस युग के कई नाटकों के अनुवाद में भारतीयकरण का यह उद्यम दिखाई देता है। पात्रों के नाम से लेकर स्थान तथा देवी-देवताओं तक के नाम भारतीय कर दिए गए हैं। हिन्दी आलोचना में कई समीक्षक इस प्रयास को नवजागरण कालीन चेतना से जोड़कर देखते हैं।

अनूदित कृति में परिवर्तन: एक ऐतिहासिक पाठ

अनुवाद की प्रक्रिया स्वयं में मूल कृति में कई परिवर्तनों की मांग करती है। इसका कारण प्रत्येक भाषा को बोलने वाले समाज की भिन्न संस्कृति और परिवेश होता है। कई बार परिवर्तन की यह प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से घटित होती है, और कई बार इसके पीछे अनुवादक का विशेष उद्देश्य होता है। तात्पर्य यह है कि अनूदित कृति पर अनुवादक की विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव पड़ता है। निर्मल वर्मा उन्नीसवीं सदी के नवजागरण के संदर्भ में लिखते हैं, "यूरोप ने भारतीय चेतना में जो दरार उत्पन्न की थी- एक हिस्सा परंपरा में डूबा हुआ और दूसरा अपने को यूरोपीय मनुष्य की छवि में ढालने में लीन- उसने एक ऐसी आत्मछलना को जन्म दिया जो हिन्दू परंपरावादियों और नव्य हिन्दुओं- दोनों के अंतःकरण को कुतरने लगी।

परंपरावादी अपने को यूरोपियों के विरुद्ध स्थापित करना चाहते थे, अपने अतीत को आदर्शीकृत करके, इसके लिए भले ही उन्हें अपने इतिहास के कुछ अंशों का मिथ्याकरण करना पड़ा हो जैसे कि बंकिम चटर्जी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में किया था।"[35] उन्नीसवीं शताब्दी में पश्चिमी संपर्क ने भारत में पुनरुत्थानवाद को प्रेरित किया। कई इतिहासकार मानते हैं कि पुनरुत्थानवाद औपनिवेशिक मानस की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, जहाँ शौर्य के नए मिथों का सृजन होता है। भारतेन्दु युग के लेखकों की पुनरुत्थानवादी दृष्टि इसी संदर्भ में देखी जानी चाहिए, जो मौलिक लेखन और अनुवाद दोनों में अभिव्यक्त हुई।

प्रो. देवशंकर नवीन लिखते हैं, "ध्यातव्य है कि सन् 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम में अपने मान-सम्मान के लिए फिरंगियों की क्रूरता का सामना कर रहे भारतीय राष्ट्रभक्तों की त्रासद पराजय के बाद यह वह दौर था, जिसमें भाषा और संस्कृति की निजता का महत्त्व हर

---

[35] वर्मा, निर्मल, *भारत और यूरोप: प्रतिश्रुति के क्षेत्र,* पृ. 49-50

भारतीय समझने लगा था। अनुवाद के माध्यम से ही सही, पर हर किसी को अपने पौराणिक ग्रंथों, प्राचीन साहित्य और विराट भारत की सांस्कृतिक धरोहरों के साथ-साथ विश्वफलकीय ज्ञान से परिचित होना जरूरी लगने लगा था।"[36] निर्मल वर्मा जिसे अतीत का आदर्शीकरण कहते हैं, प्रो. देवशंकर नवीन उसे एक ऐतिहासिक अनिवार्यता के रूप में चिह्नित करते हैं। इतिहास के उस दौर में भाषा और संस्कृति की निजता के महत्त्व को स्थापित करने के लिए ही अतीत को आदर्शीकृत किया गया और पुनरुत्थानवादी दृष्टि के तहत शौर्य के नए-नए मिथों का सृजन किया गया।

अनुवाद के माध्यम से जब एक संस्कृति दूसरे परिवेश में अनूदित होती है तो इसमें परिवर्तन स्वाभाविक है। हम देख सकते हैं कि कैसे इण्डोनेशिया, मध्य जावा, सिंहल, अरब, ईरान, चीन, तिब्बत, नेपाल एवं यूरोपीय देशों में प्रचार-प्रसार के दौरान रामकथा का स्वरूप परिवर्तित होता गया। रामचरितमानस स्वयं में इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। तुलसीदास ने वाल्मीकि रामायण को आत्मसात करते हुए उसे युगीन परिवेश में प्रस्तुत किया। आत्मसातीकरण के वृहत्तर अर्थों में यह एक तरह से अनुवाद ही है। पर रामचरितमानस के बालकाण्ड और उत्तरकाण्ड में तुलसीदास ने पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के भारतीय परिवेश का अंकन करते हुए सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण का व्यापक संदेश दिया। यह उनके युगबोध की उपज था। इसीलिए उन्होंने रामकथा की पुनर्प्रस्तुति में इसे मूल कथा के साथ प्रस्तुत किया। यह उनके चिन्तन और युगबोध का परिणाम था जो 'विचारधारा' के रूप में आत्मसातीकृत हुआ था। युगीन परिवेश की अभिव्यक्ति के कारण ही भक्तिकाल 'लोकजागरण का काल' कहा गया। प्राचीन राम कथा के 'आत्मसातीकरण' की प्रक्रिया में मूल कथा में कई नए प्रसंगों को जोड़ा गया और कई प्रसंगों को छोड़ दिया गया। 'नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद...' में गोस्वामी तुलसीदास इसी ओर इशारा करते हैं।

पाठ-पुनर्पाठ, वचन-पुनर्वचन, टीका, भाष्य, मौखिक परंपरा आदि के रूप में आत्मासतीकरण की एक ऐतिहासिक प्रक्रिया में विकसित महाभारत और रामायण की कथाओं में आई क्षेत्रीय भिन्नताओं को इसी संदर्भ में देखना होगा। *वाल्मीकि रामायण* वही नहीं है जो कंबन, कृत्तिवास और तुलसीदास का *रामायण* है। डॉ. कामिल बुल्के के शोधग्रंथ

---

[36] नवीन, देवशंकर, *अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य*, पृ. 121

रामकथा: उत्पत्ति और विकास (सन् 1950) का अध्ययन इस संदर्भ में महत्त्वपूर्ण है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने इसे 'रामकथा संबंधी समस्त सामग्री का विश्वकोश' कहा है। फादर बुल्के ने अपने शोध में तीन सौ रामकथाओं का उल्लेख किया था। इसी को आधार बनाते हुए प्रो. ए.के. रामानुजन (सन् 1929-1993) ने भारत और एशिया में पिछले ढाई हजार वर्षों से चली आ रही रामकथा का अध्ययन किया और *थ्री हंड्रेड रामायणाज: फाइव एग्जाम्पल्स ऐंड थ्री थाट्स ऑफ ट्रांसलेशन (Three Hundred Ramayanas: Five Examples and Three Thoughts of Translation)* नामक निबंध लिखा, जो काफी विवादों में भी रहा। प्रो. देवशंकर नवीन का मत है, "भारतीय संदर्भ में अनुवाद कार्य के दौरान छूट और सांस्कृतिक विस्तार का सदा स्वागत हुआ है। भारत का भाषा-शास्त्र और केन्द्रीय विषय की प्रमाणिकता के नियंता लोग कभी इस चिंता में दुबले नहीं हुए कि हमारा मूल कहीं खो जाएगा, यहां सदा इन अभिकर्मों को सांस्कृतिक अस्मिता के सन्धान और अनुवाद कार्य की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में देखा गया।"[37]

भारत की अनुवाद परंपरा में 'आत्मसातीकरण' की यह प्रक्रिया प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है, जिसमें मूल पाठ में युगबोध के अनुरूप परिवर्तन होता रहा है। हालांकि, "जब एक ही देश में सांस्कृतिक संचरण का यह वैविध्य हो जाए तो फिर विदेशी भाषाओं के साथ क्यों न हो...अनुवाद और इतिहास की सरणियाँ पार करने के बाद तो इतनी तब्दीलियाँ आ जाती हैं कि कभी-कभी सच, झूठ जैसा लगने लगता है।"[38] स्पष्टतः अनुवाद का विचारधारा से गहरा रिश्ता रहा है। इसी विचारधारा के तहत ब्रिटिश राज में भारतीयों को इतिहासहीन, असभ्य, कुसंस्कृत कहा गया और अनुवाद कर्म की पहरेदारी की गई। "अपनी रुचि के हिसाब से ऐसे अनुवाद कार्य करवाए और उसे प्रोत्साहन दिया, पुरस्कृत किया, जिनमें भारतीय संस्कृति और गरिमा आहत होती रही। 'द एरेंजमेण्ट्स ऑफ एन एलाइन्स' शीर्षक अपने लेख में सूजी थारू ने और अपने विश्लेषण में रोमिला थापर ने इन प्रसंगों का विस्तार से उल्लेख किया है।"[39]

---

[37] वही, पृ. 135

[38] वही, पृ. 133

[39] वही, पृ. 136

नवजागरण कालीन परिप्रेक्ष्य में *दुर्लभ बंधु* अनुवाद का महत्त्व

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने विलियम शेक्सपियर के नाटक *मर्चेंट ऑफ वेनिस* का हिन्दी अनुवाद *दुर्लभ बंधु* के रूप में किया। ध्यातव्य है कि इस युग के अन्य अनुवादकों ने भी शेक्सपियर के इस नाटक का अनुवाद किया है। ऐसे में यह सवाल उठना लाज़मी है कि बहुत सारे अनुवादकों ने इसी नाटक को अनुवाद के लिए क्यों चुना? आरंभिक नाटकों के अनुवाद में शेक्सपियर के नाटक बड़ी मात्रा में अनूदित हुए। पारसी रंगमंच पर इनकी लोकप्रियता को इसके लिए उत्तरदायी माना जाता है। पारसी रंगमंच पर प्रस्तुतियों को मनोरंजक और लोकप्रिय बनाने के लिए कालिदास और शेक्सपियर दोनों महान नाटककारों की कृतियों के साथ व्यापक फेरबदल किया जा रहा था। भारतेन्दु के एक संस्मरण का उल्लेख है, "काशी में पारसी नाटक वालों ने नाच घर में जब शकुंतला नाटक खेला और इसमें धीरोदात्त नायक दुष्यंत खेमटेवालियों की तरह कमर पर हाथ रखकर मटक-मटक कर नाचने और 'पतली कमर बलखाय' यह गाने लगा तो डॉ. थीबो, बाबू प्रमोद दास मित्र प्रभृति विद्वान यह कह कर उठ आए कि अब नहीं देखा जाता। ये लोग कालिदास के गले पर छुरी फेर रहे हैं।"[40] पारसी रंगमंच पर न केवल कालिदास बल्कि शेक्सपियर के नाटकों का भी यही हश्र हो रहा था।

संभवतः पारसी रंगमंच की इस अकलात्मक फेरबदल की प्रतिक्रियास्वरूप भी भारतेन्दु युग के आरंभिक अनुवादकों ने कालिदास और शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद का उद्यम शुरू किया। इस उद्यम ने हिन्दी रंगमंच के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। पारसी रंगमंच की अकलात्मक प्रस्तुतियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के साथ ही शेक्सपियर के *मर्चेंट ऑफ वेनिस* नाटक के अनुवाद के विषय में एक मत और प्रचलित है। चंचल चौहान का कहना है, "यह आकस्मिक नहीं है कि भारतेन्दु ने शेक्सपियर के नाटकों में से 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' को ही रूपांतर के लिए चुना। 'दुर्लभ' बंधु' के रूप में भारतेन्दु का नाट्य-रूपांतर व्यापारी वर्ग की चिंता पर ही आधारित है। शायद भारत के व्यापारी वर्ग की दशा से मेल खाती हुई परिस्थितियों ने ही भारतेन्दु को शेक्सपियर के नाटक की ओर उन्मुख किया हो।"[41]

---

[40] शर्मा, हेमंत (सम्पा.), *भारतेन्दु समग्र,* पृ. 576

[41] शंभुनाथ, अशोक जोशी (सम्पा.), *भारतेन्दु और भारतीय नवजागरण*, पृ. 165

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय व्यापारी वर्ग की दशा पर डॉ. रामविलास शर्मा की टिप्पणी है, "भारत में अंग्रेजों ने यहां के व्यापार का नाश करके उद्योगीकरण की जड़ ही काट दी। पहले यहां का माल खरीद कर अपने यहां बेचते थे, फिर खुली होड़ के बदले कानून के सहारे यहां के व्यापार का गला घोटने लगे। हिन्दुस्तान में विलायती माल बिकने लगा तो इसलिए नहीं कि मशीनों से चलने वाले कारखानों के माल से यहां के दस्तकारों का बनाया हुआ माल मंहगा पड़ता था या होड़ में ठहर न सकता था। मशीनों का प्रयोग न करने पर भी यहां की दस्तकारी के मुकाबले अंग्रेजी कारखाने होड़ में टिक न पाते थे। इसीलिए अंग्रेजों ने भारत के सामंतों से मिलकर पहले यहां की जमीन पर इजारा कायम किया, फिर यहां के व्यापार पर अधिकार कर किया। इस तरह उन्होंने यहां के व्यापार का नाश किया, उद्योगीकरण के लिए व्यापार द्वारा जो पूँजी एकत्र की जाती है, वह सिलसिला बंद कर दिया, भारतीय बाजार के विकास में बहुत बड़ी रुकावट डाली।...लाखों कारीगर बेकार हो गए, वे जीविका के लिए किसानी करने पर मजबूर हुए। खेती पर निर्भर लोगों की संख्या पहले से बहुत ज्यादा बढ़ गई। इस तरह भारत के बाजार का विकास न हो सकता था। जब बाजार का विकास होगा तब उद्योगीकरण किस तरह होगा, माल किसके लिए तैयार किया जाएगा"?[42]

डॉ. रामविलास शर्मा ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय व्यापारी वर्ग की दशा का जो वर्णन किया है, इसी परिप्रेक्ष्य में भातेन्दु ने शेक्सपियर के नाटक *मर्चेंट ऑफ वेनिस* को हिन्दी अनुवाद के लिए चुना होगा। नाटक की कथावस्तु से भारतीय व्यापारी वर्ग की विपन्न स्थितियों का साम्य ही इस अनुवाद की मूल प्रेरणा रही होगी। *दुर्लभ बंधु* नाटक के हिन्दी अनुवाद के माध्यम से भारतेन्दु यह भी दिखाना चाह रहे होंगे कि यूरोपीय लेखक जिस ब्रिटिश समाज और संस्कृति का गुणगान कर रहे हैं, और भारत की संस्कृति को पिछड़ी बता रहे हैं, उस ब्रिटिश समाज के सर्वश्रेष्ठ नाटककार शेक्सपियर की इस कृति में ब्रिटिश समाज में व्याप्त सूदखोरी जैसी अमानवीय प्रथा का चित्रण हुआ है। शेक्सपियर के इस नाटक में सूद के बदले शरीर का मांस लेने की कहानी का चित्रण है।

---

[42] शर्मा, रामविलास, *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण*, पृ. 32

कई अन्य अनुवादकों ने भी *मर्चेंट ऑफ वेनिस* का हिन्दी अनुवाद *वेनिस का व्यापारी* और *वेनिस का सौदागर* नाम से किया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस नाटक के नाम का शब्दानुवाद नहीं किया। उन्होंने हिन्दी अनुवाद का नाम *दुर्लभ बंधु* रखा। इसका कारण वे नाटक में अभिव्यक्त 'बंधुत्व' की भावना को बताते हैं। "मर्चेंट ऑफ वेनिस का अर्थ है- वेनिस का व्यापारी। इसी नाम से कुछ अनुवादकों ने इस नाटक अनुवाद भी किया है। मगर भारतेन्दु ने इसका शीर्षक 'दुर्लभ बंधु' रखा। उन्होंने शीर्षक का चयन करते समय वस्तुतः नाटक के संदेश को महत्त्व दिया। वह संदेश उन्होंने संस्कृत के एक श्लोक के उद्धरण से मुखपृष्ठ पर भी दिया है:

दुर्लभा गुणिनो शूराःदातारश्चाति दुर्लभाः।
मित्रार्थे त्यक्तसर्वस्वो बंधुस्सर्वेषु दुर्लभः॥

(अर्थात् संसार में गुणी शूर दुर्लभ होते हैं। दाताओं को पाना और भी कठिन है। जो मित्र अपने बंधु पर सब कुछ न्योछावर करे, ऐसा बंधु अत्यंत दुर्लभ है।")[43]

भारतेन्दु ने इस नाटक को अनुवाद की बजाए रूपांतर कहा है। नवजागरण और राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से नाटक का कथानक और विषयवस्तु महत्त्वपूर्ण है। भारतेन्दु ने नाटक के सम्पूर्ण अंग्रेजी परिवेश का भारतीय संदर्भ में पुनराख्यान करते हुए नाटक के पात्रों, स्थलों, मिथकों, परिधानों, भाषाओं आदि का भारतीयकरण कर दिया। स्थलों के नाम में वेनिस को वंशपुर, इंग्लैंड को अंग देश, फाल्कनब्रिज को व्रज पालक, वेलमोंट को बिल्वमठ कर दिया। पात्रों के नाम एंटोनियो से अनंत, बैसेनियो से बसंत, पोर्शिया से पुरश्री, शाइलॉक से शैलाक्ष, ड्यूक से मंडलेश्वर, सलेरियो से सरल, नेरीसा से नरश्री, सोलानियो से सलोने करते हुए मूल पात्रों से ध्वनित साम्य वाले नाम रखे। लैटिन, फ्रेंच, इटालियन और अंग्रेजी भाषाओं की जगह हिन्दी, ब्रज, मारवाड़ी और मैथिल भाषाओं का नाम रखा। यहाँ तक कि उन्होंने यूरोपीय परिधानों की जगह भारतीय परिधानों का नाम लिखा। भारतेन्दु ने नाटक में अंग्रेजी मिथकों का रूपांतर भी भारतीय संस्कृति के अनुरूप करते हुए नेस्टर को धर्मराज, ओरकिल को वेद व्यास, सिबिला को मार्कण्डेय, वीरनस को कामदेव और डानियल को विक्रमादित्य में

---

[43] अय्यर, एन. ई. विश्वनाथ, *व्यावहारिक अनुवाद,* पृ. 243

रूपांतरित कर दिया, और ईसाई को हिन्दू और यहूदी को जैन के रूप में दिखाया। अनूदित नाटक में परिवेश भी भारतीय ढंग से चित्रित किया गया है। भारतेन्दु द्वारा इस नाटक को पूरी तरह से भारतीय परिवेश में परिवर्तित करने की आकांक्षा नवजागरणयुगीन चेतना की देन है। मूल नाटक की भारतीय परिस्थितियों से मेल खाती कथावस्तु का सम्पूर्ण भारतीयकरण एक सांस्कृतिक प्रतिरोध के रूप में देखा जाना चाहिए।

भारतेन्दु ने ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति 'फूट डालो और राज करो' के विरुद्ध एंटोनियो और बैसेनियो की मित्रता को अनंत और बसंत के अटूट बंधुत्व के रूप में दर्शाया। ऐसे दौर में जब ब्रिटिश राज की नीति देशी राजाओं में फूट डालकर उन्हें आपस में लड़ाने और उनका राज्य हड़प लेने की थी, भारतेन्दु ने इस अनुवाद के जरिए हिन्दी समाज के सामने सौहार्द और बंधुत्व की भावना का एक बेहतरीन आदर्श प्रस्तुत किया। साथ ही, शाइलॉक (शैलाक्ष) के पतन के माध्यम से यह दर्शाने का प्रयास किया कि कपटतापूर्ण आचरण का हश्र बहुत बुरा होता है।

भारतेन्दु ने इस नाटक को पराधीन भारत के दौर में भारतीय संस्कृति के उच्च मूल्यों की प्रतिष्ठा के आग्रह के साथ पूर्ण रूप से भारतीय परिवेश में अनूदित किया। कुछ विद्वानों का मत है कि 'नितांत भारतीयकरण' की आकांक्षा के कारण भारतेन्दु शेक्सपियर के नाटक की केन्द्रीय संवेदना से वह संपर्क नहीं बना पाए, जो शेक्सपियर संप्रेषित करना चाह रहे थे। संभवतः भारतेन्दु इस नाटक का अनुवाद एक निश्चित राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए कर रहे थे, जिसकी चेतना नवजागरणकालीन राष्ट्रीय मुक्ति की भावना से संचालित हो रही थी। *दुर्लभ बंधु* नाटक के अनुवाद में भारतेन्दु द्वारा किए गए परिवर्तन के मूल में राष्ट्रीय नवजागरण की चेतना के विस्तार की भावना ही प्रधान थी।

तीसरा अध्याय

द्विवेदी युग में अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद : राष्ट्रीय चेतना का प्रसार

- महावीर प्रसाद द्विवेदी के हिन्दी अनुवादों के राष्ट्रीय सरोकार
- रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी अनुवाद
- श्रीधर पाठक की अनूदित कविताओं का संदर्भ
- पत्रकारिता और हिन्दी अनुवाद

तृतीय अध्याय

द्विवेदी युग में अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद : राष्ट्रीय चेतना का प्रसार

भारत के इतिहास में बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध अंग्रेजों द्वारा भारत में राजनीतिक आन्दोलनों के दमन का काल था। इतिहास के इस दौर तक आते-आते देश में स्वाधीन चिन्तन की लहर तेज होने लगी थी। कांग्रेस पार्टी के उदारवादी नेता दबी जबान में ही सही स्वराज की बात करने थे। स्वाधीनता संग्राम की इन्हीं परिस्थितियों के बीच सन् 1915 में भारतीय राजनीति में महात्मा गाँधी का प्रवेश हुआ और भारत के राजनीतिक परिदृश्य में अहिंसा तथा सत्यागह जैसे मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई। गाँधी जी के प्रयासों से सन् 1920 में अंग्रेजी राज के विरुद्ध देश में पहला जन आंदोलन (असहयोग आंदोलन) हुआ। इस आन्दोलन में पहली बार समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों, महिलाओं, छात्रों, मजदूरों आदि की भागीदारी दिखी और इसे आम जनता का समर्थन मिला।

द्विवेदी युग का अनूदित साहित्य स्वाधीन चिन्तन की आकांक्षा से प्रभावित है। यह युग नवजागरण की सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था। इस युग के साहित्य में हिन्दी नवजागरण की वैचारिक चेतना का प्रचार-प्रसार हुआ। इस चेतना का

स्रोत महाराष्ट्र और गुजरात का भारतीय नवजागरण था। इस युग के अधिकांश हिन्दी रचनाकार महत्त्वपूर्ण अनुवादक भी थे।

महावीर प्रसाद द्विवेदी के हिन्दी अनुवादों के राष्ट्रीय सरोकार

द्विवेदी युग का अधिकांश अनूदित साहित्य बीसवीं शताब्दी के आरंभ में देश में हो रहे सामाजिक परिवर्तन और स्वाधीन चिन्तन की आकांक्षाओं की उपज है। डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं "हिन्दी नवजागरण का तीसरा चरण महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगियों का कार्यकाल है।"[1] रामविलास जी ने महावीर प्रसाद द्विवेदी को हिन्दी की जातीय परंपरा का व्यवस्थापक बताते हुए इस युग के साहित्य को हिन्दी नवजागरण का तीसरा चरण कहा है। दुनिया के सभी उपनिवेशों में स्वाधीन चेतना का आरंभ ज्ञान के विस्तार से हुआ है। भारतेन्दु युग ने जिस ज्ञानाश्रित बोध की नींव रखी थी, महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगियों ने अपने सुविचारित चिन्तन के माध्यम से उसे एक व्यवस्थित स्वरूप देने का उद्यम किया। ज्ञान के विस्तार की इस प्रक्रिया में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने स्वयं तो अनुवाद किया ही, अपने सहयोगियों को भी अनुवाद कर्म की ओर प्रवृत्त किया। इस युग को 'ज्ञान राशि का संचित कोश' बनाने में अनुवाद की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही।

महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुवाद कर्म पर प्रो. देवशंकर नवीन लिखते हैं "समसामयिक पर्यवस्थिति की वैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक हलचलों के प्रति भारत के आम नागरिक को जाग्रत करने और उनमें अस्मिताबोध भरने, आत्मसम्मान के प्रति सावधान रहकर सिर उन्नत रखने की प्रेरणा देने की दिशा में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का अवदान अद्वितीय है।"[2] स्पष्टतः द्विवेदी जी की अनूदित कृतियों ने जनमानस में आत्म गौरव एवं राष्ट्रीय अस्मिता की भावना को जाग्रत किया। इनके अनुवाद हिन्दी नवजागरण की वैचारिकी के अध्ययन का प्रमुख स्रोत हैं। *सरस्वती* पत्रिका में छपे अपने लेख *यूरोप में कालिदास* में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संस्कृत के महान कवि कालिदास के यूरोपीय भाषाओं में हुए अनुवादों की चर्चा की है। इस लेख में कालिदास को विश्वकवि की उपाधि देते हुए उन्हें भारत का शेक्सपियर कहे जाने का खंडन करते हुए महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कहा कि कालिदास को भारत का शेक्सपीयर क्यों कहा जाए, क्यों न शेक्सपीयर को योरप का कालिदास कहा जाए। संभवतः

---

[1] शर्मा, रामविलास, *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण*, पृ. 15

[2] नवीन, देवशंकर, *अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य*, पृ. 122

अपने इसी विचार के समर्थन में द्विवेदी जी ने कालिदास की तीन रचनाओं *ऋतुसंहार, कुमार संभवम* और *रघुवंश* का अनुवाद किया। जिस कृति की यूरोपीय लेखकों में सर्वाधिक चर्चा हुई, उस *अभिज्ञानशाकुंतलम* का अनुवाद उन्होंने नहीं किया, मानो वे यह दिखाना चाह रहे हों कि *अभिज्ञानशाकुंतलम* तो कालिदास के लेखन का सिर्फ एक अंश है। आत्म गौरव एवं अस्मिताबोध की यही चेतना आचार्य द्विवेदी के लेखन का प्रस्थान बिन्दु है। द्विवेदी युग देश में राष्ट्रीय चेतना के प्रसार का युग था। यही चेतना महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा अंग्रेजी कृतियों के हिन्दी अनुवाद की प्रेरणा बनी। *सरस्वती* पत्रिका में छपे लेखों का अध्ययन महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रवादी उत्थान के दौर में इस पत्रिका के लेखों ने हिन्दी के लोकवृत्त का निर्माण किया। *सरस्वती* पत्रिका के कई महत्त्वपूर्ण मौलिक लेख अनुवाद की प्रक्रिया से ही निर्मित हुए थे। अनूदित लेखों की भाषा और कथ्य में इतना बदलाव कर दिया जाता था कि ये मौलिक लेख बन जाते थे, अर्थात इस पत्रिका में छपे कई लेखों की निर्मिति भावानुवाद के क्रम में हुई।

हिन्दी साहित्येतिहास में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा किए गए अंग्रेजी के चार महत्त्वपूर्ण हिन्दी अनुवादों का उल्लेख मिलता है। सन् 1901 में इन्होंने अंग्रेजी के प्रसिद्ध लेखक फ्रांसिस बेकन के चुने हुए निबंधों *एसेज* का *बेकन-विचार-रत्नावली* नाम से अनुवाद किया। सन् 1906 में प्रख्यात शिक्षाविद् हर्बर्ट स्पेन्सर की कृति *द एज्युकेशन* को *शिक्षा* नाम से अनूदित किया। सन् 1907 में प्रसिद्ध इतिहासकार जॉन स्टुअर्ट मिल की *ऑन लिबर्टी* का *स्वाधीनता* नाम से हिन्दी अनुवाद किया और सन् 1907 में ही जर्मन लेखक लुई कोने द्वारा जर्मन भाषा में लिखी गई अद्‌भुत पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद का *जल चिकित्सा* नाम से अनुवाद किया। द्विवेदी जी ने सिर्फ राष्ट्रीय चेतना से प्रेरित होकर अनुवाद नहीं किया बल्कि उन्होंने हिन्दी भाषा को सम-सामयिक विषयों की अभिव्यक्ति में सक्षम बनाने के ऐतिहासिक कार्य के लिए भी अनुवाद किया।

बेकन-विचार-रत्नावली

फ्रांसिस बेकन (सन् 1561-1626) सोलहवीं शताब्दी के एक प्रमुख अंग्रेज निबंधकार थे। इन्हें अंग्रेजी भाषा का पहला मौलिक निबंध लेखक भी माना जाता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी बेकन के निबंधों से अत्यंत प्रभावित थे। फ्रांसिस बेकन के बारे में द्विवेदी जी ने लिखा है, "बेकन की विद्वत्ता अद्वितीय थी। दर्शनशास्त्र की ओर उसकी विशेष प्रवृत्ति थी। तत्त्व-ज्ञान संबंधी विचारों ने, इस समय अँगरेजी में जो रूप धारण किया है, वह बेकन की ही विशाल

प्रतिभा का फल है। 'इण्डक्टिव फिलॉसफी' का अंकुर यदि बेकन न जमाता तो उस विज्ञान को एतादृश रूपांतर कदापि न प्राप्त होता। बेकन ने विज्ञान संबंधी कई उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखे हैं। यानी बेकन के निबंधों में दार्शनिक और वैज्ञानिक विचार भरे पड़े हैं। बेकन सोलहवीं शताब्दी के अंत में अपने जिन विचारों को प्रकट कर रहा था, वे उस समय के समाज में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने वाले थे।"[3] स्पष्टतः इस अनुवाद के पीछे बेकन के दार्शनिक, वैज्ञानिक और क्रांतिकारी विचारों की ही प्रेरणा थी। बेकन के निबंध मानवीय मूल्यों एवं राष्ट्र-चिंतन पर आधारित थे। बेकन के महत्त्वपूर्ण निबंधों के अनुवाद के माध्यम से द्विवेदी जी हिन्दी समाज को इन निबंधों में अभिव्यक्त क्रांतिकारी विचारों से परिचित कराना चाह रहे थे। द्विवेदी जी की अनुवाद दृष्टि सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा से संचालित हो रही थी।

बेकन-विचार-रत्नावली के अंतर्गत प्रकाशित निबंधों में से कुछ निबंध *नागरी प्रचारिणी*, *भारत-मित्र* और *हिंदोस्थान* पत्रिकाओं में पहले ही प्रकाशित हो गए थे। इनका सम्पूर्ण प्रकाशन बाद में खेमराज श्रीकृष्णानंद ने अपने बंबई स्थित श्रीवेंकटेश्वर प्रेस में किया था। बेकन के *एसेज* में कुल 58 निबंध थे। द्विवेदी जी ने इनमें से 36 निबंधों का अनुवाद किया था। उन्होंने देश-काल के अनुरूप गूढ़ एवं वैज्ञानिक विषयों पर लिखे महत्त्वपूर्ण निबंधों को ही अनूदित किया। अनूदित पुस्तक की भूमिका में द्विवेदी जी ने इस ओर संकेत करते हुए लिखा है "शेष 22 निबंधों का विषय बहुशाः ऐसा है जो एतद्देशीय जनों को तादृश रोचक नहीं है; इसीलिए हमने उनको छोड़ दिया है।"[4] बेकन के निबंधों का अनुवाद करते समय द्विवेदी जी देश के लोगों की रुचि को प्राथमिकता दे रहे थे। उनका अनुवाद कर्म सोद्देश्य था।

आचार्य द्विवेदी ने जिन निबंधों का अनुवाद किया था, उनके विषय नवजागरण की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना से जुड़े थे। जैसे - *सत्य, व्यय, विद्याध्ययन, विलम्ब, भाषण, स्वार्थपरता, रूढ़ि, कार्यसाधन, भाग्योदय, भ्रमात्मक धर्मभीरुता, नई प्रथा और निरीश्वर।* इन विषयों पर लिखे गए निबंध बड़े ही विचारोत्तेजक और गंभीर हैं। इनका युगीन संदर्भों में बड़ा वैचारिक महत्त्व था। द्विवेदी जी के इसी सोद्देश्य अनुवाद कर्म की ओर इशारा करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं, "द्विवेदी जी ने स्वयं बेकन के निबंधों और मिल की *'लिबर्टी'* नामक पुस्तक का अनुवाद किया था।...अच्छी पुस्तकों और लेखों का अनुवाद प्रकाशित

---

[3] यायावर, भारत (सम्पा.), *महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली*, खण्ड 10, पृ. 7

[4] वही, पृ. 6

करना शिक्षा-प्रसार के लिए वह आवश्यक समझते थे।"[5] फ्रांसिस बेकन विलियम शेक्सपियर के समकालीन थे। इनके निबंध जब पहली बार प्रकाशित हुए थे, तभी ये इतने चर्चित हो गए थे कि प्रायः यूरोप की सभी भाषाओं में इनका अनुवाद किया गया। हिन्दी में इन निबंधों के रूपांतर की ऐतिहासिक आवश्यकता को द्विवेदी जी ने पूरा किया। इस अनुवाद से नवजागरणकालीन चेतना का और अधिक विस्तार हुआ। निबंध के जिन विषयों का उल्लेख पहले किया गया है, जनता को उनकी शिक्षा देने की भावना से अनुवाद करना वृहत्तर संदर्भ में राष्ट्रीय चेतना की भावना का प्रसार करना ही था। स्पष्टतः द्विवेदी जी के अनुवादों का उद्देश्य लोगों की वैचारिक चेतना को समृद्ध कर उन्हें शिक्षित बनाना था। नवजागरणकालीन दौर में द्विवेदी जी का अनुवादक व्यक्तित्व हिन्दी जाति के वैचारिक उत्थान के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहा।

शिक्षा

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सन् 1906 में यूरोप के महान दार्शनिक हर्बर्ट स्पेन्सर की पुस्तक *एज्यूकेशन* का *शिक्षा* नाम से अनुवाद किया। यह अनुवाद भी राष्ट्रीय उद्देश्यों को ध्यान में रखकर किया गया था। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत में आधुनिक शिक्षा की स्थिति अत्यंत दयनीय थी। उस समय देश में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान संबंधी ग्रन्थों का अभाव था। राष्ट्र की उन्नति के लिए भारतीय नवजागरण के चिंतकों और समाज सुधारकों द्वारा शिक्षा पर निरंतर ज़ोर दिया जा रहा था। हिन्दी में तो अच्छे ग्रन्थों का और अभाव था।

शिक्षा अनुवाद की भूमिका में आचार्य द्विवेदी लिखते हैं, "शिक्षा की जैसी विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण मीमांसा इस पुस्तक में स्पेन्सर ने की है वैसी आज तक और किसी ने नहीं की। शिक्षा से सम्बन्ध रखने वाली पुस्तकों में यह पुस्तक अद्वितीय है। स्पेन्सर की पुस्तकों में से जितना प्रचार इस पुस्तक का हुआ है उतना और किसी का नहीं हुआ। यूरोप और एशिया की अनेक भाषाओं में इसके अनुवाद हो गए हैं और होते जा रहे हैं। अमेरिका में तो इस पुस्तक का बहुत ही अधिक आदर हुआ है। आज तक इसकी लाखों कापियाँ छप चुकी हैं और बराबर बिक रही हैं। स्पेन्सर के सिद्धांतों के प्रायः सर्वांश को मान्य समझकर अँगरेजों ने अपने देश में अपनी शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन आरंभ कर दिया है। इस देश में तो शिक्षा की बड़ी ही हीन दशा है। अतएव हम लोगों के लिए तो स्पेन्सर के शिक्षा-विषयक सिद्धांतों के जानने और तदनुसार व्यवहार करने की बहुत ही अधिक आवश्यकता है।"[6] द्विवेदी जी देश की हीन

---

[5] शर्मा, रामविलास, *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण*, पृ. 253-254

[6] यायावर, भारत (सम्पा.), *महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली*, खण्ड 10, पृ. 281

शिक्षा व्यवस्था को लेकर चिंतित थे। उनकी चिंता निश्चय ही राष्ट्रीय चेतना से जुड़ जाती है, जब वे लिखते हैं कि हम लोगों के लिए तो स्पेन्सर के शिक्षा-विषयक सिद्धांतों को जानने और तदनुसार व्यवहार करने की बहुत ही अधिक आवश्यकता है।

सन् 1878 में स्पेन्सर ने अपनी मूल अंग्रेजी पुस्तक का एक सस्ता संस्करण निकाला था। इसका कारण बताते हुए स्पेन्सर लिखते हैं, कि शिक्षा के विषय में यह छोटी सी पुस्तक जो मैंने लिखी है उसके असली संस्करण की मांग बढ़ती देख मेरे मन में यह कल्पना हुई कि मैं इसका एक सस्ता संस्करण निकालूँ जिसमें सब लोगों को इसे मोल लेने में अधिक सुभीता हो। अमेरिका में इस पुस्तक का बहुत अधिक प्रचार हुआ है और फ्रांस, जर्मनी, इटली, रूस, हंगरी, हॉलैंड और डेनमार्क की भाषाओं में इसके अनुवाद हो गए हैं। इस भूमिका से ज्ञात होता है कि यह पुस्तक उन्नीसवीं सदी के यूरोप में अत्यंत लोकप्रिय हो चुकी थी। प्रायः सभी यूरोपीय भाषाओं में इस कृति का अनुवाद हुआ था। यही कारण था कि आचार्य द्विवेदी का ध्यान इस अमूल्य कृति की ओर गया और उन्होंने इसे हिन्दी में अनूदित करने का निर्णय लिया। अनुवाद के इस सोद्देश्य उद्यम के पीछे आचार्य द्विवेदी की एक निश्चित अनुवाद दृष्टि दिखती है, "जैसे अँगरेजों ने ग्रीक और लैटिन भाषा की सहायता से अँगरेजी की उन्नति की, और उन भाषाओं के उत्तमोत्तम ग्रंथों का अनुवाद करके अपने साहित्य की शोभा बढ़ाई, वैसे ही हमको भी करना चाहिए। इस समय अँगरेजी का साहित्य अत्यंत उन्नत दशा को प्राप्त है। अतएव हमको चाहिए कि उस भाषा के अच्छे-अच्छे ग्रंथों का अनुवाद करके हिन्दी के साहित्य की दशा को सुधारें।... इस समय विज्ञान, इतिहास, यात्रा, जीवनचरित और समालोचनाओं की हिन्दी में बड़ी भारी न्यूनता है। इस न्यूनता को पूरा करना हिन्दी बोलने वालों का परम धर्म है।"[7] देश की संपर्क भाषा के रूप में हिन्दी को एक मात्र विकल्प मानने वाले द्विवेदी जी को अंग्रेजी के उन्नत साहित्य से कोई घृणा नहीं है। इसके उलट वे अपने समकालीन रचनाकारों को अंग्रेजी साहित्य के अच्छे-अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद के लिए प्रेरित करते हैं और स्वयं भी इसका आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

स्वाधीनता

स्वाधीनता जे.एस. मिल (सन् 1806-1873) के *ऑन लिबर्टी* (सन् 1859) का हिन्दी अनुवाद है। महावीर प्रसाद द्विवेदी का यह अनुवाद सन् 1907 में प्रकाशित हुआ था। जे.एस.

---

[7] शर्मा, रामविलास, *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण*, पृ. 322

मिल को उन्नीसवीं सदी का सबसे बड़ा 'उदारवादी दार्शनिक चिंतक' कहा जाता है। वह एक सिविल सर्वेण्ट, अर्थशास्त्री और राजनीतिज्ञ भी रहा था। अपने जीवन काल के कुछ वर्ष मिल ने ईस्ट इंडिया कंपनी की सेवा में बिताया था। मिल ने अंग्रेजी राज द्वारा भारत को उपनिवेश बनाने का समर्थन किया था यद्यपि उसने ब्रिटिश शासन के तौर-तरीकों की आलोचना भी की थी। अपनी पुस्तक *ऑन लिबर्टी* में मिल ने उच्च मानवीय मूल्यों की बात की। इस पुस्तक में मिल ने ऐसे 'लोकमत' (Public Opinion) के महत्त्व की स्थापना की बात जिसमें मत-मतांतरों का समन्वय हो। मिल के अनुसार मानव व्यक्तित्व के विकास के लिए मानवीय स्वतन्त्रता और विचारों की स्वतंत्रता आवश्यक है। पर भारत के संदर्भ में उसके विचार भिन्न थे। उसने भारत के 'उपनिवेशीकरण' को अपना वैचारिक संबल प्रदान किया था।

इस अनुवाद के पीछे आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की मंशा देश की जनता के समक्ष ब्रिटिश विचारकों की दुहरी मानसिकता को प्रस्तुत करने की रही होगी कि किस प्रकार ब्रिटेन का महान दार्शनिक अपनी रचनाओं में व्यक्ति और विचारों की स्वतन्त्रता का समर्थन करता है, जबकि भारत में उसके अपने देश की व्यावहारिक नीति औपनिवेशिक शोषण के विस्तार की है। भारत के इतिहास में यह स्वदेशी आंदोलन का दौर था। बंग-भंग के विरोध सन् 1905 से सन् 1911 तक न केवल बंगाल बल्कि पूरा भारत इस आंदोलन की चपेट में आ गया था। असहयोग आंदोलन के पहले यह एक बड़ा राजनीतिक आंदोलन था। द्विवेदी जी स्वदेशी आंदोलन से बहुत गहरे अर्थों में प्रभावित हुए थे। उन्होंने इससे पहले सन् 1903 में *स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार* नाम से एक कविता भी लिखी थी जो *सरस्वती* में प्रकाशित हुई थी। पर ब्रिटिश राज के प्रकोप से बचने के लिए पत्रिका में इस कविता के लेखक का नाम नहीं दिया गया था।

महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा सन् 1907 में जे.एस. मिल की *ऑन लिबर्टी* के अनुवाद के महत्त्व को समझने के लिए स्वदेशी आंदोलन की इस पृष्ठभूमि को जानना अत्यंत आवश्यक है। प्रो. देवशंकर नवीन लिखते हैं, "उनकी अनुदित कृतियों *'शिक्षा'* और *'स्वाधीनता'* ने उस दौर के भारतीय मानस को गर्वोन्नत होने का बल दिया। सम्पोषित अनुवाद-प्रक्रिया की कलुषित धारणा के सहारे फिरंगी प्रभु-वर्ग जिस तरह भारतीय नागरिकों के आचार-विचार, इतिहास-परंपरा, आहार-व्यवहार, सभ्यता-संस्कृति का विकृत स्वरूप उपस्थित कर

भारतीय नागरिकों को असभ्य कह कर उनका स्वाभिमान तोड़ रहे थे, इन दोनों कृतियों के अनुवाद ने उनके टूटते मनोबल को आत्मज्ञान दिया और वे गर्व से भर उठे।"[8]

महावीर प्रसाद द्विवेदी *स्वाधीनता* के तीसरे संस्करण (सन् 1921) की भूमिका में स्वयं लिखते हैं, "इससे सूचित है कि इस पुस्तक की कदर लोगों ने की है; उन्हें इसका विषय, और इसके विचार उपयोगी ज्ञात हुए हैं। समय ने भी पलटा खाया है। देश में सर्वत्र जागृति ने अपने पैर जमाए हैं।...राजनीति की जिन जटिल समस्याओं की समालोचना इस पुस्तक में प्रसंगवश आ गई है उनकी भी चर्चा इस समय इस देश में खूब हो रही है। अतएव ऐसे समय में इस पुस्तक का यह तीसरा संस्करण अच्छे अवसर पर निकाला जा रहा है।"[9] इसी भूमिका में द्विवेदी जी आगे लिखते हैं, "सौभाग्य से मिल साहब की अन्य दो महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित हो गया है, उनके नाम हैं- (1) *स्त्रियों की पराधीनता* (Subjection of Women) और; (2) *प्रतिनिधिसत्तात्मक शासन प्रणाली* (Representative Government)।"[10]

उपर्युक्त उद्धरण में द्विवेदी जी स्त्रियों की सामाजिक दशा के ऊपर जे.एस. मिल द्वारा लिखी गई कृति के हिन्दी अनुवाद का उल्लेख करते हुए अपनी खुशी जाहिर करते हैं। उनके लिए स्त्रियों की मुक्ति का प्रश्न भी उतना ही महत्त्वपूर्ण और राष्ट्रीय है जितना स्वाधीनता का प्रश्न। द्विवेदी जी की यह चेतना भारतीय नवजागरण का ही विस्तार है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी अनुवाद

हिन्दी आलोचना और साहित्येतिहास ग्रन्थों में लंबे समय तक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के आलोचक व्यक्तित्व की आभा के सम्मुख उनके अनुवादक व्यक्तित्व को यथेष्ट स्थान नहीं मिल पाया। शुक्ल जी का साहित्यिक लेखन अनुवाद के माध्यम से ही शुरू हुआ था। आचार्य शुक्ल ने सर्वप्रथम सन् 1901 में जोसेफ एडिसन की रचना *प्लेजर्स ऑफ इमैजिनेशन* का *कल्पना का आनन्द* नाम से अनुवाद किया था। यह अनुवाद उन्होंने तब किया जब वे चौदह-पन्द्रह वर्ष के थे। बाद के वर्षों में शुक्ल जी ने अनुवाद के लिए कृतियों के चयन में देश-काल और सामयिक परिस्थितियों को अधिक महत्त्व देना शुरू कर दिया था। इसके पीछे उनका उद्देश्य हिन्दी समाज के ज्ञान और आत्मगौरव के भावबोध का विस्तार करना था।

---

[8] नवीन, देवशंकर, *अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य*, 2016, पृ. 123

[9] यायावर, भारत (सम्पा.), *महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली*, खण्ड 10, पृ.110

[10] वही, पृ. 110

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अनुवाद कर्म उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के तत्कालीन भारत के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण के वृहत्तर संदर्भों से जुड़ा है। आचार्य शुक्ल के सम्पूर्ण अनूदित साहित्य पर विचार करते हुए प्रो. मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, "आचार्य शुक्ल के इन अनुवादों को देखकर उनकी ज्ञान की व्यापकता का अंदाजा लगता है और साथ ही इस बात का भी कि वे भारतीय समाज में कैसे विचारों का प्रचार-प्रसार करना चाहते थे। आचार्य शुक्ल का यह प्रयत्न उपनिवेशवादी अनुवादों के प्रतिरोध के रूप में सामने आता है।"[11]

शुक्ल जी जिस दौर में लिख रहे थे, वह पराधीनता का दौर था। तत्कालीन सांस्कृतिक परिवेश में हिन्दी क्षेत्र की जनता असमंजस में थी। एक ओर उसके सामने औपनिवेशिक ज्ञान-विज्ञान की चकाचौंध थी तो दूसरी ओर मन में स्वाधीनता की चाह भी मौजूद थी। ब्रिटिश राज की औपनिवेशिक नीतियों से प्रेरित दूषित अनुवाद करने की संस्कृति जनमानस की चेतना पर अपना दुष्प्रभाव डाल रही थी। ऐसे समय में नवजागरण कालीन लेखकों ने अनुवाद कर्म को सांस्कृतिक प्रतिरोध का एक सशक्त माध्यम बनाते हुए अपनी 'जातीय परंपरा की मुक्ति' और 'स्वत्व की पहचान' का उद्यम शुरू किया। यह अकारण नहीं है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने अनुवादों में भारतीय दृष्टान्तों का व्यापक प्रयोग किया है। शुक्ल जी ने देश की जनता तक अपनी देशज रीति और नीति के अनुकूल ज्ञान-विज्ञान के फलक का विस्तार करते हुए विभिन्न ग्रंथों का अनुवाद किया।

शुक्ल जी की अनुवाद दृष्टि का लक्ष्य हिन्दी नवजागरण की चेतना का प्रचार-प्रसार करना था। ब्रिटिश राज की सांस्कृतिक वर्चस्ववादी नीति के बरअक्स शुक्ल जी अपने अनुवादों के माध्यम से पुरातन सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को रेखांकित कर रहे थे। यद्यपि शुक्ल जी स्वतंत्र चिंतन के लिए विश्व साहित्य के अध्ययन को महत्त्वपूर्ण मानते थे, पर उनका कहना था कि अपने देश के साहित्य के अध्ययन-चिंतन के अध्ययन के लिए साहित्य दृष्टि अपने जातीय संदर्भों से उपजी होनी चाहिए। आचार्य शुक्ल अपने अनुवादों को पाठकों के लिए बोधगम्य बनाने के प्रति हमेशा सजग दिखाई देते हैं। अनूदित कृतियों में उनका प्रयास यही रहा है कि पाठक वर्ग मूल भाव को ठीक-ठीक समझ सके। इसके लिए वे कभी-कभी अपनी ओर से कुछ मिला देते थे या मूल के किसी अंश को बदल भी देते थे। न्यूमन के निबन्ध *लिटरेचर* के अनुवाद में उन्होंने अपनी ओर से *कठोपनिषद* के मंत्र जोड़ दिए थे। अपनी अनूदित कृतियों की भूमिका में शुक्ल जी ने प्रायः अनुवाद कर्म की गंभीरता को रेखांकित किया है। उन्होंने

---

[11] पाण्डेय, मैनेजर, *आलोचना में सहमति और असहमति*, पृ. 113

इस विषय पर गंभीर चर्चा की है कि अनुवाद करते समय मूल पाठ में क्या परिवर्तन किए जाएँ, क्या जोड़ा जाए और क्या छोड़ दिया जाए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अनूदित कृतियाँ

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अनूदित कृतियों के निर्धारण को लेकर हिन्दी साहित्य के आलोचकों और अध्येताओं में भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं। डॉ. मधुरेश ने शुक्ल जी द्वारा अनूदित कृतियों की संख्या आठ बताई है। पर डॉ. मधुरेश के यहाँ *बुद्धचरित* के अलावा शुक्ल जी के किसी भी अनुवाद का नामोल्लेख नहीं मिलता है। श्री उदयभान दुबे द्वारा संकलित *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की रचना सूची* (काल-क्रमानुसार) (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग की सम्मेलन पत्रिका के भाग-70 सं. 2-4 में प्रकाशित) में गंभीर त्रुटियाँ हैं। उन्होंने शुक्ल जी की अनूदित कृतियों की संख्या सात बताई है। इसमें शुक्ल जी द्वारा लिखे गए मौलिक लेख *प्राचीन भारत का एक शक राजा* को भी अनूदित कृति बताया गया है। अपनी पुस्तक *हिन्दी आलोचना के एवरेस्ट* में रामकृपाल पाण्डेय ने शुक्ल जी की अनूदित कृतियों की संख्या नौ बताई है और अर्नस्ट हैकेल के *रिड्ल ऑफ दि यूनीवर्स* के हिन्दी अनुवाद *विश्व प्रपंच* की शुक्ल जी द्वारा लिखी गई भूमिका को अनूदित पुस्तक की श्रेणी में डाल दिया है। साथ ही इसमें *कल्पना का आनंद* और *प्राचीन फारस का इतिहास* को अनूदित पुस्तक बताया गया है, जबकि ये दोनों अनूदित लेख हैं। रामचन्द्र तिवारी ने *रामचन्द्र शुक्ल संचयिता* में आचार्य शुक्ल की आठ अनूदित कृतियों का उल्लेख किया है। यह भी त्रुटिपूर्ण है। इसमें शुक्ल जी द्वारा अनूदित लेख *कल्पना का आनंद* और *साहित्य* अनूदित पुस्तकों की श्रेणी में शामिल कर लिया गया है।[12] प्रो. ओम प्रकाश सिंह द्वारा संपादित *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रंथावली* में शुक्ल जी की छः अनूदित कृतियों को शामिल किया गया है।[13] डॉ. आनंद कुमार शुक्ल ने भी शुक्ल जी की अनूदित कृतियों की संख्या छः मानी है। इनके अनुसार *मेगास्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन, राज्य प्रबंध शिक्षा, आदर्श जीवन, विश्व प्रपंच, शशांक* और *बुद्धचरित* ही फिलहाल प्राप्य एवं प्रामाणिक हैं'।[14]

शुक्ल जी के अनुवादों का परिचय देते हुए प्रो. देवशंकर नवीन लिखते हैं, "आचार्य रामचंद्र शुक्ल (सन् 1884-1941) ने बंगला से राखाल दास बंद्योपाध्याय के उपन्यास *शशांक* और

---

[12] शुक्ल, आनन्द कुमार, *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अनुवाद-कर्म*, पृ. 24-26

[13] सिंह, ओमप्रकाश (सम्पा.), *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रंथावली,* खण्ड 6 एवं 7, पृ. 5

[14] वही, पृ. 26

जोसेफ एडिसन की रचना *प्लेजर्स ऑफ इमेजिनेशन* का (कल्पना का आनंद) अंग्रेजी से हिन्दी में रोचक अनुवाद किया। *बुद्धचरित* शीर्षक से उन्होंने एडविन आर्नल्ड की *लाइट ऑफ एशिया* का ब्रजभाषा में भी पद्यानुवाद किया, इसके अलावा *आदर्श जीवन, मेगास्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन* जैसी कई रचनाओं का अनुवाद किया, पर जर्मनी के प्रसिद्ध प्राणिशास्त्री और भौतिकवादी दार्शनिक अर्नस्ट हैकल की पुस्तक *रिड्ल ऑफ द युनिवर्स* का *विश्व प्रपंच* शीर्षक से अत्यंत श्रम और उत्साह पूर्वक किया गया अनुवाद विशेष उल्लेखनीय है। बाद में उन्होंने इस अनुवाद के साथ विस्तृत और महत्त्वपूर्ण भूमिका भी लिखी।"[15] स्पष्टतः *मेगास्थनीज का भारतवर्षीय वर्णन, राज्य प्रबंध शिक्षा, आदर्श जीवन, विश्व प्रपंच, शशांक* और *बुद्धचरित* ही शुक्ल जी द्वारा अनूदित कृतियाँ हैं, जिन्हें प्रामाणिक माना गया है। इस अध्याय में अंग्रेजी से हिन्दी में अनूदित कृतियों पर विचार किया गया है। पुस्तकों का क्रम प्रकाशन वर्ष से न रखकर इनकी गंभीरता और महत्त्व के अनुसार रखा गया है।

विश्व प्रपंच

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अर्नस्ट हैकेल की पुस्तक *रिड्ल ऑफ दि युनिवर्स* का *विश्व प्रपंच* नाम से हिन्दी में अनुवाद किया था। यह अनुवाद सन् 1920 में प्रकाशित हुआ था। *रिड्ल ऑफ दि युनिवर्स* की रचना सन् 1899 (प्रकाशन सन् 1901) में अर्नस्ट हैकेल ने जर्मन भाषा में की थी।

इस अनुवाद के बारे में प्रो. ओमप्रकाश सिंह लिखते हैं "अर्नस्ट हैकल (1834-1919) प्रसिद्ध प्रकृतिवादी और डारविन के सिद्धांतों के गहरे समर्थक थे। डारविन के सिद्धांतों के समर्थन में उनकी अनेक पुस्तकें निकली थीं जिनमें 'रिडल ऑव द युनिवर्स' को सर्वाधिक ख्याति मिली। इस पुस्तक का अंगरेजी अनुवाद जोजफ मैककैब ने किया था। आचार्य शुक्ल ने अंग्रेजी अनुवाद से हिन्दी अनुवाद किया।"[16] शुक्ल जी ने जोजफ मैककैब द्वारा अंग्रेजी में अनूदित ग्रंथ को आधार बनाया था। *विश्व प्रपंच* के प्रारम्भ में शुक्ल जी हैकल की पुस्तक का परिचय देते हुए लिखते हैं, "आज जर्मनी के जगद्विख्यात प्राणितत्त्ववेत्ता हैकेल की परम प्रसिद्ध पुस्तक 'दि रिड्ल ऑफ दि युनिवर्स' हिन्दी पढ़ने वालों के सामने रखी जाती है। यह आधिभौतिक पक्ष का सिद्धांत ग्रंथ है। इसमें नाना विज्ञानों से प्राप्त उन सब तथ्यों का संग्रह है

---

[15] नवीन, देवशंकर, *अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य*, पृ. 123

[16] सिंह, ओमप्रकाश (सम्पा.), *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रंथावली,* खण्ड 6, पृ. 5

जिन्हें भूतवादी अपने पक्ष के प्रमाण में उपस्थित करते हैं। जिस समय यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ योरप में इसकी धूम सी मच गई। अकेले जर्मनी में दो महीने के भीतर इसकी 9000 प्रतियाँ खप गईं। योरप की सब भाषाओं में इसके अनुवाद निकले। अँगरेजी की तो लाखों कॉपियाँ पृथ्वी के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक पहुँच गईं। इस पुस्तक ने सबसे अधिक खलबली पादरियों के बीच डाली जिनकी गालियों से भरी हुई सैकड़ों पुस्तकें इसके प्रतिवाद में निकली।"[17]

धर्म और विज्ञान के सदियों पुराने झगड़े में हैकेल ने अपनी इस पुस्तक के माध्यम से जोरदार तर्कों और व्याख्याओं के द्वारा विज्ञान की सत्ता को प्रतिष्ठित करने का ऐतिहासिक प्रयास किया, जिसका दुनिया भर में स्वागत हुआ। इस पुस्तक का दुनिया की अनेक भाषाओं में अनुवाद हुआ था। बीसवीं सदी के समाज में ज्ञान-विज्ञान की यह एक बड़ी छलांग थी। इससे चिढ़कर धर्मसत्ता के समर्थक वर्ग ने इस पुस्तक की वैज्ञानिक धारणाओं के विरोध में व्यापक अभियान चलाया था। डॉ. समीक्षा ठाकुर का मत है कि शुक्ल जी को *विश्व प्रपंच* के अनुवाद की प्रेरणा प्रखर स्वतंत्रता सेनानी बाल गंगाधर तिलक के *गीता रहस्य* से मिली थी। वे लिखती हैं, "गीता रहस्य में हर्बर्ट स्पेन्सर के दर्शन की भी मीमांसा है जिसके मनोवैज्ञानिक विचारों से शुक्लजी किशोरावस्था से ही परिचित थे। उस विकासवादी विज्ञान का काफी विवेचन है जिसमें विश्व की उत्पत्ति संबंधी धार्मिक अंधविश्वासों का खंडन किया गया है। अनुमानतः हैकेल के *रिड्ल ऑफ दि युनिवर्स* का हिन्दी में *विश्वप्रंपच* नाम से अनुवाद करने की प्रेरणा आचार्य शुक्ल को गीता रहस्य से ही प्राप्त हुई।"[18]

तिलक *गीता रहस्य* में हैकेल की चर्चा करते हुए लिखते हैं "आधिभौतिक शास्त्रकार भी एक ही अव्यक्त प्रकृति से अनेक प्रकार की व्यक्त सृष्टि कैसे हुई इस विषय पर कपिल की अपेक्षा कुछ नहीं बतला सकते। इस बात को भली-भांति समझा देने के लिए ही हमने आगे चलकर, बीच में स्थान-स्थान पर कपिल के सिद्धांतों के साथ-साथ हैकेल के सिद्धांतों का भी तुलना के लिए संक्षिप्त वर्णन किया है।"[19] बाल गंगाधर तिलक के अतिरिक्त नवजागरण कालीन अन्य लेखक-विद्वानों ने भी हैकेल के विचारों पर लिखा था। *सरस्वती* पत्रिका में श्री रामनारायण शर्मा के *क्रम विकास* शीर्षक लेख में भी हैकेल के विचारों का जिक्र मिलता है, जिसके बारे में

---

[17] वही, ग्रंथावली के खण्ड 6 के आरंभ में लिखे गए *इस भाग में* से उद्धृत

[18] ठाकुर, समीक्षा, *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त और गीता रहस्य*, पृ. 37

[19] तिलक, बाल गंगाधर, *गीता रहस्य,* पृ. 110

डॉ. रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण* में चर्चा की है। हैकेल की इस पुस्तक के बारे में लेनिन के विचारों से अवगत कराते हुए प्रो. देवशंकर नवीन लिखते हैं, "लेनिन ने इस पर टिप्पणी की कि पूंजीवादी राजनीतिक विचारों के बावजूद लेखक की यह लोकप्रिय पुस्तिका पूंजीपति-वर्ग के विरुद्ध वर्ग-संघर्ष का हथियार बन गई।"[20] निस्संदेह आचार्य शुक्ल का यह अनुवाद हिन्दी समाज में रूढ़िवाद विरोध और ज्ञान-विज्ञान संबंधी भौतिक चिंतन को बढ़ावा देने की भावना से ही प्रेरित रहा होगा। अपनी धर्म-विरोधी अंतर्वस्तु के कारण ही इस पुस्तक का अनुवाद लंबे समय तक हिन्दी साहित्य की मुख्य धारा में चर्चा का विषय नहीं बन पाया। हैकेल की इस पुस्तक ने रूढ़िवाद विरोधी ज्ञान-विज्ञान को बढ़ावा देने वाली विचारधारा को अत्यन्त लोकप्रिय बना दिया था।

प्रो. देवशंकर नवीन का मत है "अनुवाद की भूमिका में आचार्य शुक्ल ने उल्लेख किया कि गत शताब्दी (उन्नीसवीं शताब्दी) में यूरोप में भौतिक विज्ञान, रसायन, भूगर्भ विद्या, प्राणिविज्ञान, शरीरविज्ञान आदि के अंतर्गत नई-नई बातों का पता लगने लगा, नए-नए सिद्धांत स्थिर होने लगे, जगत् के सम्बन्ध में लोगों की भावनाएँ बदलने लगीं, चीजों को ईश्वर की कृति मानकर संतोष कर लेने की जगह विज्ञानसम्मत कार्य-कारण संबंध की विस्तृत श्रृंखला उपस्थित हुई, ज्ञान-दृष्टि को विस्तार मिला, वैज्ञानिक प्रगति में आस्था व्यक्त की गई। स्पष्टतः उस भूखंड के पादरियों के लिए यह कृति अनिष्टकर साबित होती। एक ऐसे समय में, जब यूरोपीय शासन-तंत्र भारत जैसे धर्मप्राण देश के पवित्र ग्रंथों का विकृत अनुवाद प्रस्तुत कर भारतीय नागरिकों के मन में अपने ही धर्म एवं संस्कृति के प्रति हीन-भाव भर रहा था, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हीं के चिंतकों के विचार का चयन किया और अपने देश के राष्ट्र-भक्तों को अंग्रेजों का विकृत चेहरा दिखाकर मनोबल बढ़ाया।"[21]

हिन्दी नवजागरण के दूसरे उत्थान में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा हैकेल की इस महत्त्वपूर्ण कृति का अनुवाद हिन्दी ज्ञान परंपरा के विकास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। इसके माध्यम से शुक्ल जी ने हिन्दी समाज को समकालीन यूरोप के धार्मिक अंधविश्वास विरोधी वैज्ञानिक चिंतन से परिचित कराया और हिन्दी जनता के आहत हो रहे मनोबल को सांस्कृतिक संबल प्रदान किया। इन अर्थों में शुक्ल जी का यह अनुवाद हिन्दी नवजागरण की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना से जुड़ जाता है।

---

[20] नवीन, देवशंकर, *अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य*, पृ. 122

[21] वही, पृ. 125

मेगास्थिनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन

आचार्य शुक्ल ने सन् 1905 में डॉ. श्वानबक की अंग्रेजी पुस्तक *मेगास्थिनीज़ इंडिका* को *मेगास्थिनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन* नाम से हिन्दी में अनूदित किया। आचार्य शुक्ल ने इस ग्रंथ के अनुवाद की भूमिका के अंत में 10 जुलाई सन् 1905 तारीख लिखी है। अनुवाद की भूमिका में आचार्य शुक्ल लिखते हैं, "मेगास्थिनीज़ नामक एक व्यक्ति अर्कोशिया (अफ़गानिस्तान) के क्षत्रप साइबरटिअस के यहां सिल्यूकस के प्रतिनिधि की भांति रहता था, राजदूत बनाकर पाटलिपुत्र (पटना) भेजा गया। कहते हैं कि वह पाँच वर्ष चन्द्रगुप्त के साथ रहा जिसके बीच उसने भारतवर्ष का विवरण (Ta Indika) 'टा इंडिका' के नाम से लिखा। अभाग्यवश यह पुस्तक अब नहीं है केवल उसके अंश इधर उधर दूसरे यूनानी तथा रोमन ग्रंथों में उद्धृत मिलते हैं। इन्हीं छितराए हुए खंडों को डॉक्टर श्वानबक (Dr. Schwanbeck) नामक एक पश्चिमी विद्वान ने एकत्रित करके इतिहास के खोजियों का असीम उपकार किया है। इन्हीं महाशय के अलौकिक परिश्रम से आज साठ वर्ष से यह खंड 'मेगास्थनीज इंडिका' के नाम से संसार में प्रसिद्ध है।"[22]

श्वानबक की *मेगास्थिनीज इंडिका* यूनानी तथा रोमन भाषा के ग्रन्थों में उद्धृत विवरणों के आधार पर संकलित की गई है। यही ग्रंथ शुक्ल जी के अनुवाद का आधार है। शुक्ल जी द्वारा इस अनुवाद का उद्देश्य हिन्दी समाज की ऐतिहासिक दृष्टि का विस्तार करना था। एक सजग इतिहासबोध के निर्माण के माध्यम से वे हिन्दी जनता को अपने गौरवमयी अतीत की ओर उन्मुख कर रहे थे, और अंततः आत्मगौरव की भावना का संचार कर रहे थे। पर शुक्ल जी का इतिहासबोध पुनरुत्थानवादी नहीं था। *मेगास्थिनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन* की भूमिका में उनके द्वारा किया गया ऐतिहासिक विश्लेषण उनकी सजग इतिहास दृष्टि का प्रमाण है। इस भूमिका में शुक्ल जी प्राच्यवाद के आरंभिक विद्वान विलियम जोन्स को भी याद करते हैं, "चन्द्रगुप्त की कथा पुराणों में तो लिखी है किंतु उसके काल इत्यादि का पता पूरे निश्चय के साथ तब तक नहीं लगा जब तक यूनानी ग्रंथों की छानबीन नहीं की गई। धन्य वह घड़ी थी जिसमें सर विलियम जोन्स इन पुराणों की नामावली के चन्द्रगुप्त और यूनानियों के 'सैण्ड्रोकोटस' (Sandrakottos) में सादृश्य देखकर चौके थे। भली प्रकार जांच करने पर उन दोनों के गुप्त वृत्तान्तों में भी उन्हें कुछ अंतर न दिख पड़ा। फिर क्या था, चन्द्र को बैक्ट्रिया

---

[22] सिंह, ओमप्रकाश (सम्पा.), *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रंथावली,* खण्ड 6, पृ. 268-269

(बलख़) के बादशाह सिल्यूकस का समकालीन मानकर उन्होंने बहुतेरे ऐतिहासिक तत्त्वों तक पहुंचने के लिए मार्ग खोल दिया।"[23]

शुक्ल जी के इस अनुवाद के पीछे की मंशा यही रही होगी कि एक विदेशी इतिहासकार मेगास्थिनीज़ द्वारा भारत के अतीत के बारे में लिखी गई प्रशंसापरक टिप्पणियाँ पराधीनता के दौर में देश की जनता के गिरते मनोबल को उसके स्वर्णिम अतीत का बोध करा सकती थीं। *टा-इंडिका* के अनुवाद *मेगास्थिनीज इंडिका* को शुक्ल जी ने 'हतदर्प जाति' के आत्मसम्बल प्राप्ति का जरिया बनाया। अनुवाद की भूमिका में शुक्ल जी ने अपने एक अन्य उद्देश्य "आर्य जाति के वीरोचित और गौरवपूर्ण अतीत की प्रत्यागति को भी रेखांकित किया। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आचार्य शुक्ल ने पारसी जाति को आर्यों की एक शाखा बताकर उसके स्वर्णिम अतीत को भारतीय आर्यों के अतीत से जोड़ा। भूमिका में शुक्ल जी ने सिकंदर के विश्वविजय अभियानों से लेकर चन्द्रगुप्त मौर्य के उत्थान तक का वर्णन भारतीय एवं यूनानी ग्रंथों के आधार पर किया है। शुक्ल जी द्वारा अनूदित यह कृति और विशेषकर इसकी भूमिका प्राचीन भारत के इतिहास को भारतीय दृष्टि से देखने का प्रयास है।"[24]

इस अनुवाद के माध्यम से शुक्ल जी ने यह दिखाया कि प्राचीन भारत के इतिहास में किस प्रकार मौर्य युग साहित्य, कला, संस्कृति, प्रशासन, व्यापार-वाणिज्य आदि के क्षेत्र में उन्नत दशा को प्राप्त था। इस अनुवाद में अभिव्यक्त शुक्ल जी की ऐतिहासिक दृष्टि प्रामाणिक तथ्यों से संपुष्ट है। शुक्ल जी अतीत से अभिभूत नहीं हैं। वे अतीत के अन्वेषण के पक्षधर हैं और इस क्रम में वे जगह-जगह हिन्दी समाज को सजग करते चलते हैं।

राज्यप्रबन्ध शिक्षा

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सन् 1913 में राजा सर टी. माधवराव द्वारा लिखी पुस्तक *माइनर हिंट्स* का *राज्यप्रबन्ध शिक्षा* नाम से अनुवाद किया। राजा सर टी. माधवराव के बारे में शुक्ल जी ने लिखा है, "आज इस अनुवाद द्वारा हिन्दी पाठकों के सामने देशी राज्यों के प्रबन्ध आदि के विषय में ऐसे पुरुष का अनुभव रखा जाता है जिसने अपने नीति बल और व्यवस्था कौशल से भारतवर्ष के दो बड़े राज्यों को चौपट होने से बचाया था। जिन लोगों ने राजा सर

---

[23] वही, पृ. सं. 260

[24] शुक्ल, आनन्द कुमार, *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अनुवाद-कर्म*, पृ. 30

टी. माधवराव का नाम सुना होगा वे यह भी जानते होंगे कि उनकी सारी आयु देशी राज्यों की शासन पद्धति सुधारने में बीती थी। वे बड़े भारी नीतिज्ञ और राज्य संचालक थे।"[25]

राजा सर टी. माधवराव ने इस पुस्तक की रचना अपने अनुभवहीन राजा को शासकीय कार्यों को सुचारु ढंग से चलाने के प्रति सजग करने हेतु लिखी थी। इस पुस्तक की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इसमें राजा और प्रजा के मध्य सम्बन्धों की भी विस्तृत चर्चा की गई है। यही बात युगीन परिस्थितियों में सर्वाधिक प्रासंगिक थी।

अनुवाद की भूमिका में शुक्ल जी अपने उद्देश्य को इंगित करते हुए लिखते हैं "समाज के हित और सुभीते के लिए यह आवश्यक है कि उसमें अनुभव की हुई बातों का अच्छा संचय रहे जिससे लोगों को अपना कर्तव्य स्थिर करने के लिए इधर-उधर बहुत भटकना न पड़े।"[26] स्पष्टतः शुक्ल जी ने यह अनुवाद भी एक निश्चित राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए किया था। हिन्दी में उस समय तक शासन पद्धति संबंधी ग्रन्थों का अभाव था। भारत के इतिहास का यह दौर बंग-भंग आंदोलन के कारण भी जाना जाता है। अंग्रेजों के कुशासन की चौतरफा आलोचना के दौर में शासन पद्धति से संबंधित इस ग्रंथ का अनुवाद शुक्ल जी ने हिन्दी समाज में राष्ट्रीय जागरण की भावना के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से ही किया था।

आदर्श जीवन

आचार्य शुक्ल ने सन् 1914 में एच.डी. एडम्स द्वारा लिखी गई पुस्तक *प्लेन लिविंग ऐंड हाई थिंकिंग* का *आदर्श जीवन* नाम से छायानुवाद किया। शुक्ल जी ने यह अनुवाद करते समय इसका भारतीयकरण कर दिया है। इस अनुवाद में युधिष्ठिर, महाराणा प्रताप, चाणक्य आदि भारतीय महापुरुषों का उल्लेख मिलता है, और इसमें महाकाव्यों के उदाहरण दिए गए हैं। पश्चिमी विचारों के उदाहरण में भारतीय संस्कृति और परंपरा से उद्धरण देने के पीछे शुक्ल जी की क्या मंशा रही होगी? शुक्ल जी ने इस पुस्तक का छायानुवाद ही क्यों किया? इस निहितार्थ को समझे बगैर इस अनुवाद का मूल्यांकन अधूरा होगा। शुक्ल जी संभवतः यह सिद्ध करना चाह रहे थे कि आज पश्चिमी देशों को जिन व्यवहारों के लिए सांस्कृतिक रूप से श्रेष्ठ माना जा रहा है, वैसे आचार-विचार भारत में प्राचीन काल से ही प्रचलन में रहे हैं।

---

[25] सिंह, ओमप्रकाश (सम्पा.), *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रंथावली,* खण्ड 6, पृ. 367

[26] वही, पृ. 367

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में देश में पश्चिमी विचारों का प्रभाव बढ़ता ही जा रहा था। इस अनुवाद का भारतीयकरण करना, देश के युवाओं को अपनी संस्कृति और सभ्यता की ओर उन्मुख करने का ही उद्यम है, जैसा कि शुक्ल जी इस अनुवाद की भूमिका में लिखते हैं, "इस पुस्तक का उद्देश्य युवा पुरुषों के अन्तःकरण में उत्तम संस्कार उत्पन्न करना है।"[27]

रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अंग्रेजी से अनूदित लेख

अंग्रेजी की कृतियों के अनुवाद के साथ ही शुक्ल जी ने अंग्रेजी लेखों का भी हिन्दी अनुवाद किया। हालांकि, शुक्ल जी के लेखों की संख्या, प्रकाशन वर्ष और नाम को लेकर अध्येताओं में पर्याप्त मतभेद रहा है। कुछ प्रमुख अंग्रेजी लेखों का अनुवाद नीचे दिया गया है।

साहित्य (सन् 1904)

साहित्य जॉन हेनरी न्यूमैन के लेखों के संग्रह *लिटरेचर* का भावानुवाद है। यह अनुवाद *दि आइडिया ऑफ ए यूनिवर्सिटी* पर आधरितहै।

शुक्ल जी ने इस लेख में परिप्रेक्ष्य को सही तरह से समझाने के लिए भारतीय दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं। जैसे, जहाँ शेक्सपियर के नाटकों की पंक्तियों का उल्लेख है वहाँ वे कालिदास के *रघुवंश* का उदाहरण देकर विषय को समझाते हैं। इस अनुवाद में शुक्ल जी की आलोचक दृष्टि भी दिखती है।

अखण्डत्व

यह अनुवाद 'ओलिवर लॉज' के एक भाषण का अनुवाद है जो उन्होंने सन् 1913 में ब्रिटिश एसोसिएशन में दिया था। इस अनुवाद की विषय-वस्तु युगीन चेतना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थी। लेख के शीर्षक से ही स्पष्ट है यह अनुवाद अखण्डता पर आधारित है। पराधीनता के दौर में ऐसे विषय पर लिखे गए लेख का अनुवाद करना राष्ट्रीय प्रश्नों के प्रति समाज को जागरूक करना ही है। ऐसे समय में, जब अंग्रेज देश के अलग-अलग धर्म और संप्रदाय के लोगों में निरंतर फूट डालने और उन्हें एक दूसरे के विरुद्ध खड़ा करने का कुचक्र रच रहे थे, शुक्ल जी हिन्दी समाज को अखण्डता के विचारों से परिचित कराते हैं कि यह विचार किसी भी देश और समाज के लिए क्यों जरूरी है।

---

[27] वही, पृ. 438

प्राचीन फारस देश का इतिहास

यह लेख *इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका* के *फारस* नामक लेख का हिन्दी अनुवाद है। इस अनुवाद में विवादग्रस्त प्रसंगों पर टिप्पणी देकर शुक्ल जी ने अपनी ओर से इसे भरा-पूरा बनाया है। इस अनुवाद का उद्देश्य हिन्दी भाषी समाज की ऐतिहासिक चेतना को समृद्ध करना था।

प्राचीन भारतवासियों का पहिरावा

इस लेख का अनुवाद आचार्य शुक्ल ने डॉ. राजेन्द्र लाल मित्र के एक लेख के आधार पर किया था। यह एक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक लेख है। डॉ. राजेन्द्र लाल मित्र के लेख वैचारिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण होते थे। इनका तत्कालीन भारतीय समाज में व्यापक महत्त्व था। शुक्ल जी ने यह अनुवाद स्वदेशी आंदोलन शुरू होने से ठीक पहले किया था। अंग्रेजों की औपनिवेशिक आर्थिक नीतियों ने भारत के देशी सूती वस्त्र उद्योग को नष्ट कर दिया था। जीवन के हर क्षेत्र में लोग इंग्लैण्ड का अनुकरण करना चाह रहे थे। ऐसे समय शुक्ल जी भारत के प्राचीन समाज के लोगों के परिधान पर लिखे गए लेख का अनुवाद लेकर सामने आते हैं। उनका यह अनुवाद स्वदेशी और स्वराज की प्रतिष्ठा का ही प्रयास है।

प्राचीन भारतवासियों की समुद्र यात्रा

यह अनुवाद *डॉन मैगजीन* में प्रकाशित श्री हाणचन्द्र चकलेदार के एक लेख पर आधरित है। यह अनुवाद भी शुक्ल जी की अनुवाद दृष्टि को ही दर्शाता है। इस अनुवाद के माध्यम से शुक्ल जी ने समाज में प्रचलित अवैज्ञानिक मान्यताओं का खंडन किया और नवजागरण की चेतना को और मजबूत करने में अपना योगदान दिया। भारतीय समाज में कुछ लोग ऐसा मानते थे कि समुद्र यात्रा धर्म के विरुद्ध है। शुक्ल जी ने इस मान्यता का खण्डन करने के लिए प्राचीन भारत के उदाहरण के आधार पर लिखे गए लेख का अनुवाद किया और समाज में वैज्ञानिक चिंतन को बढ़ावा दिया।

भारत के इतिहास में हूण

यह अनुवाद *दि इंडियन एंटीक्वेरी* में प्रकाशित प्रो. कृष्ण स्वामी आयंगर के लेख का हिन्दी अनुवाद है। यह अनुवाद भारतीय इतिहास और सामाजिक विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस अनुवाद के माध्यम से शुक्ल जी ने हिन्दी जाति की ऐतिहासिक चेतना को समृद्ध करने का प्रयास किया।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उपर्युक्त लेखों का अनुवाद इनमें निहित साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक मूल्यों से प्रभावित होकर नवजागरण कालीन ज्ञान-विज्ञान को बढ़ावा देने वाली चिंतन धारा के विस्तार के प्रयोजन से ही किया गया। राष्ट्रीय चेतना के परिप्रेक्ष्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अंग्रेजी से हिन्दी में अनूदित कृतियों और लेखों के विश्लेषण से यह पुष्ट होता है कि उनके अनुवादों का प्रमुख उद्देश्य हिन्दी ज्ञान-परंपरा का विस्तार और हिन्दी जाति में वैज्ञानिक और राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना का प्रसार करना था।

श्रीधर पाठक की अनूदित कविताओं का संदर्भ

अंग्रेजी साहित्य के प्रभाव में श्रीधर पाठक ने अपने युग में लिखी जा रही कविता को एक नई राह दिखाई। उन्होंने हिन्दी समाज को साहित्यिक रूढ़ियों से भिन्न स्वच्छंद भावों वाली खड़ी बोली के बिल्कुल अलहदा अंदाज़ से परिचित कराया। छायावादी कविता की एक विशिष्ट अभिव्यंजनापद्धति इसी का विस्तार है। हिन्दी कविता में पहले-पहल स्वच्छंदतावादी कविता के कथ्य और शिल्प के स्वरूप निर्धारण का श्रेय श्रीधर पाठक को ही है। इनके माध्यम से खड़ी बोली कविता पर अंग्रेजी कविता के आत्मसातीकरण का गहरा प्रभाव पड़ा। उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी की अंग्रेजी कविताओं के अनुवाद का प्रभाव परवर्ती कविता में मौलिक काव्यप्रवृत्तियों के रूप में स्थापित हुआ। इस प्रभाव के परिणामस्वरूप विकसित स्वच्छंद चेतना में न केवल प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों को निहारा जा सकता है, बल्कि इसे युगीन राष्ट्रीय संदर्भों में भी पढ़ा जा सकता है। काव्यनिर्माण के साथ ही आलोचना के नए प्रतिमानों को भी अनुवाद ने समान रूप से प्रभावित किया।

आचार्य रामचन्द्र अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास के *काव्यखंड : नई धारा : द्वितीय उत्थान* में लिखते हैं, "पर हमारे साहित्य में जो रूढ़ियाँ हैं, वे किसी और देश की नहीं, उनका विकास इसी देश के साहित्य के भीतर संस्कृत में हुआ है।...हरिश्चंद्र के सहयोगियों में काव्य धारा को नए-नए विषयों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी, पर भाषा ब्रज ही रहने दी गई और पद्य के ढाँचों, अभिव्यंजना के ढंग तथा प्रकृति के स्वरूप निरीक्षण आदि में स्वच्छंदता के दर्शन न हुए। इस प्रकार की स्वच्छंदता का आभास पहले पहल पं. श्रीधर पाठक ने ही दिया।"[28] शुक्ल जी इस बात पर खेद प्रकट करते हैं कि श्रीधर पाठक के समकालीन लेखकों ने

---

[28] शुक्ल, रामचन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, पृ. 412

उनके स्वच्छंदतावादी मार्ग का अनुसरण नहीं किया। वे लिखते हैं, "खेद है कि सच्ची और स्वाभाविक स्वच्छंदता का यह मार्ग हमारे काव्यक्षेत्र के बीच चल न पाया। बात यह है कि उस समय पिछले संस्कृत काव्य के संस्कारों के साथ पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी हिन्दी साहित्य में आए जिनका प्रभाव गद्य साहित्य और काव्यनिर्माण दोनों पर बहुत व्यापक पड़ा।"[29] आचार्य शुक्ल इसे महावीर प्रसाद द्विवेदी का प्रभाव कहते हैं। श्रीधर पाठक यद्यपि समकालीन काव्यलेखन की प्रमुख प्रवृत्ति न बन पाए पर आगे चलकर इनका हिन्दी कविता पर गहरा प्रभाव पड़ा। हिन्दी आलोचना में श्रीधर पाठक को खड़ी बोली कविता में स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति, प्रकृति प्रेम एवं शोकगीत का प्रवर्तक माना गया है।

डॉ. जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल लिखते हैं, "पाठक जी को खड़ी बोली कविता में तीन प्रकार की प्रवृत्तियों और काव्य परम्पराओं का प्रवर्तक माना जाना चाहिए- स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति, प्रकृति प्रेम और शोक गीत। उन्होंने गोल्थ स्मिथ के जिन तीन काव्य ग्रन्थों का अनुवाद किया था, उनमें स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति उभर कर आई थी। इन कृतियों में गोल्ड स्मिथ की वह आत्मा छटपटाती हुई दिखायी देती है जो पूंजीवाद के उदय के कारण कृत्रिम बने नागरिक जीवन की अशान्ति से दूर ग्राम्यांचल में शान्ति पाना चाहती है। यूरोप में स्वच्छन्दतावाद का जन्म कृत्रिम नागरिक सभ्यता और औद्योगीकरण के कारण उत्पन्न नए जीवन की प्रतिक्रिया स्वरूप ही हुआ था।"[30] श्रीधर पाठक ने अपनी कविताओं को प्रकृति के रूढ़िबद्ध रूपों तक सीमित नहीं किया। उन्होंने उसके रूप को नजदीक से निहारा।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है, "उन्होंने खड़ी बोली पद्य के लिए सुन्दर लय और चढ़ाव-उतार के कई नए ढांचे भी निकाले और इस बात का ध्यान रखा कि छंदों का सुन्दर लय से पढ़ना एक बात है, रागरागिनी गाना दूसरी बात। ख्याल या लावनी की लय पर जैसे 'एकान्तवासी योगी' लिखा गया वैसे ही सुथरे साइयों के सधुक्कड़ी ढंग पर 'जगत सचाईसार' जिसमें कहा गया है कि जगत है सच्चा, तनिक न कच्चा, समझो बच्चा। इसका भेद'। 'स्वर्गीय वीणा' में उन्होंने उस परोक्ष दिव्य संगीत की ओर रहस्यपूर्ण संकेत दिया जिसके ताल सुर पर यह सारा विश्व नाच रहा है।"[31] श्रीधर पाठक ने ही पहली बार खड़ी बोली को अभिव्यक्ति

---

[29] वही, पृ. 412

[30] खण्डेलवाल, डॉ. जयकिशन प्रसाद, *हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां*, पृ. 589

[31] वही, पृ. 412

का एक नया ढंग दिया। आधुनिकतावाद को स्वच्छंदतावाद का ही विस्तार कहा जाता है और इस संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की यह टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है, "पं. श्रीधर पाठक ही स्वच्छंदतावाद (रोमांटिसिज्म) के सच्चे प्रवर्तक रहते हैं।"[32]

एकान्तवासी योगी

श्रीधर पाठक ने सन् 1886 में ओलिवर गोल्डस्मिथ के बैलड *द हरमिट* (सन् 1765) का *एकान्तवासी योगी* नाम से खड़ी बोली में लोकप्रचलित लय *लावनी* में अनूदित किया। यह बैलड ओलिवर गोल्डस्मिथ के अंग्रेजी उपन्यास *विकर ऑफ वेकफील्ड* (The Vicar of Wakefield) के आठवें अध्याय में संकलित है। यह एडविन और एंजेलेना के प्रेम पर आधारित है, जिसमें नायक एडविन नायिका एंजेलेना के प्रेम में योगी हो जाता है। वह जंगल में कुटी बनाकर रहने लगता है। बाद में एंजेलेना को अपनी भूल का आभास होता है। वह उसे पुरुष वेश में खोजती हुई उसके पास पहुँचती है। दोनों एक दूसरे को पहचान लेते हैं। फिर वे कभी अलग नहीं होते हैं। *एकान्तवासी योगी* का प्रेम स्वच्छंद है। यह बाह्य नियंत्रण और लोक-मर्यादा से परे है। इसमें वैयक्तिक स्वतंत्रता की प्रतिष्ठा है।

द हरमिट का अनुवाद उस युग में हुआ था जब खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में अनुपयुक्त बताया जा रहा था। जहाँ एक ओर भारतेन्दु स्वयं खड़ी बोली में कविता लिखना कठिन बता रहे थे, "न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ। इस भाषा की क्रियाओं में दीर्घ मात्रा विशेष होने के कारण बड़ी असुविधा होती है।"[33] वहीं दूसरी ओर *एकांतवासी योगी* का खड़ी बोली में किया गया यह अनुवाद हिन्दीतर भाषा भाषी बंगाल में भी अत्यंत लोकप्रिय हो रहा था। इस अनुवाद के पांचवें संस्करण की भूमिका में पं. श्रीधर पाठक लिखते हैं, "इस संबंध में चारों ओर से जो सम्मितियां प्राप्त हुई हैं, अभिनन्दन का जो अंबार लगा (जिनमें कुछ तो अपने समय के सर्वोत्कृष्ट विद्वान एवं कवि थे) वह उतने ही बहलाने वाली भी थीं और तो और लगभग प्रत्येक युवती जिसने इसे पढ़ा और समझा है इस 'प्रिय प्रेम- गाथा' को छाती से लगाया।...ऐसी जानकारी है कि अनेक लड़कियां (जिनमें कुछ बंगाली) उठते-बैठते यहां तक कि सोते समय इसका साथ नहीं छोड़ती थीं, बड़े चाव से इसे अपने निकट अथवा तकिये के नीचे रख लेती थीं।...काव्य की मुक्त प्रशंसा के

---

[32] वही, पृ. 412

[33] शर्मा, हेमंत (सम्पा.), *भारतेन्दु समग्र*, पृ. 74-75

लिए क्या यह कोई कम बात है"?[34] पाठक जी के इस अनुवाद की लोकप्रियता बंगाल में भी उतनी ही थी जितनी हिन्दी प्रदेशों में। इस लोकप्रियता का कारण पाठक जी द्वारा इस अनुवाद को नितांत भारतीय परिवेश में प्रस्तुत करना रहा। अनुवाद की प्रक्रिया में पाठक जी ने काफी छूट ली थी और मूल पाठ में विस्तार किया था। कविता के अनुवाद में यह स्वाभाविक भी है। युगीन संदर्भों में यह कविता पश्चिमी सभ्यता के बरअक्स भारतीय परिवेश में प्रस्तुत की गई है।

इस अनुवाद में पहली बार खड़ी बोली में प्रकृति का चित्रण किया गया है, जो अत्यंत प्रभावोत्पादक है। स्पष्ट है कि श्रीधर पाठक ने *एकांतवासी योगी* के अनुवाद के माध्यम से खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का ऐतिहासिक कार्य किया, जिसने राष्ट्रीय नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में 'हिन्दी लोकवृत्त' के निर्माण में आगे चलकर बड़ी भूमिका निभाई।

ऊजड़ ग्राम

ऊजड़ ग्राम (सन् 1886) अंग्रेजी कवि ऑलिवर गोल्डस्मिथ के ही शोकगीत *द डेजर्टेड विलेज* (The Deserted Village) का ब्रजभाषा में किया गया अनुवाद है। गोल्डस्मिथ ने द डिजर्टेड विलेज को सन् 1770 में लिखा था। श्रीधर पाठक ने *द डिजर्टेड विलेज* को भी पूर्णतः भारतीय परिवेश में अनूदित किया। *ऊजड़ ग्राम* के केन्द्र में गोल्डस्मिथ का अपना गांव 'ऑबर्न' है। कविता के आरंभ में कवि ने अपने गाँव 'ऑबर्न' की सुख समृद्धि का वर्णन किया है। कवि याद करता है कि जब वह छोटा बच्चा था तब उसका गांव कितना हरा-भरा और खुशहाल था। युवावस्था में कवि को अपना गाँव छोड़ना पड़ता है। वह कहीं बाहर बस जाता है। जब वह पूंजीवादी व्यवस्था के प्रभाव में अपने उजड़े गांव को देखता है तो इसकी दुर्दशा पर शोक प्रकट करता है। *ऊजड़ ग्राम* कविता में इंग्लैंड की प्रशासनिक व्यवस्था का भी चित्रण है। पूंजीवादी व्यवस्था ने चारों ओर अव्यवस्था फैला दी है। कवि इससे आहत है। उसका बालमन अपने अतीत को याद करके विलाप करता है। अंत में वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि एकांत और सुकून के क्षण ही सुख के क्षण हैं।

भारतीय प्रेम-परंपरा के काव्यों में भी प्रेम में योगी बनने के उदाहरण मिलते हैं। श्रीधर पाठक ने अपने अनुवाद में इस परंपरा को आत्मसात करते हुए गोल्डस्मिथ की मूल संवेदना को

---

[34] पाठक, पद्मधर, *श्रीधर पाठक ग्रन्थावली*, (भाग-2), पृ. 41

भारतीय परिवेश में पुनर्प्रस्तुत किया है। *ऊजड़ ग्राम* में गाँव के उजड़ जाने का चित्रण ही कविता की मुख्य अंतर्वस्तु है। गोल्ड स्मिथ का मानना था कि इंग्लैंड में धन संपत्ति की प्रतिष्ठा के कारण जन साधारण को उनके अधिकारों से वंचित होना पड़ा है। इसके परिणामस्वरूप लोगों के विस्थापन और उत्पीड़न की त्रासद स्थितियाँ पैदा हुई हैं। यह न केवल समाज बल्कि सम्पूर्ण देश की दुर्दशा और नैतिक पतन का कारण बन सकती हैं। गोल्डस्मिथ ने इस कविता में अपने समय की आर्थिक विषमता, शोषण और सत्ता के दुरूपयोग की आलोचना की है, और व्यक्ति के अधिकारों और उसकी निजता का समर्थन किया है। अपने अनुवाद में श्रीधर पाठक ग्रामीण जीवन के विविध आयामों के अंकन के माध्यम से करुणा का भाव उत्पन्न करने में पूरी तरह से सफल रहे हैं।

ध्यातव्य है गोल्डस्मिथ के काव्य की इन्हीं प्रवृत्तियों को लक्षित कर श्रीधर पाठक ने इसका अनुवाद किया होगा। इस अनुवाद के माध्यम से वे हिन्दी समाज को यह दिखाना चाह रहे होंगे कि इंग्लैंड में पूंजीवादी व्यवस्था के क्या परिणाम हुए हैं? किस प्रकार इस व्यवस्था ने मनुष्य को उससे परिवेश से अलग कर दिया है, और उसके अन्तर्मन में एक 'फाँक' पैदा कर दी है। अनुवाद के माध्यम से वे यह दिखाना चाह रहे होंगे कि भारत में भी ब्रिटिश राज की पूंजीवादी नीतियों का यही दुष्परिणाम हो सकता है। श्रीधर पाठक की काव्य-दृष्टि के बारे में मन्मथ नाथ गुप्त लिखते हैं, "कांग्रेस के जन्म से पूर्व ही पाठक जी अपनी कविता में स्वाधीन भारत का स्वप्न देख और दिखा चुके थे। श्रीधर पाठक हिन्दी के प्रथम और प्रमुख राष्ट्र कवि थे उनके बाद आए मैथिलीशरण और दिनकर।"[35] निस्संदेह श्रीधर पाठक का यह अनुवाद हिन्दी की राष्ट्रीय काव्यधारा की बुनियाद है, जिस पर आगे चलकर छायावाद में राष्ट्रीय जागरण की काव्यात्मक अभिव्यक्ति का स्वर और प्रखर रूप में अभिव्यक्त होता है।

श्रान्त पथिक

श्रीधर पाठक ने सन् 1902 में ऑलिवर गोल्डस्मिथ की ही एक अन्य रचना *द ट्रैवलर* (The Traveller) का काव्यानुवाद किया। गोल्डस्मिथ ने इस कविता को सन् 1764 में लिखा था। *द ट्रैवलर* की रचना जिस दौर में हुई वह इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति का दौर था। औद्योगिक क्रांति से उपजी अशान्ति और उथल-पुथल से व्यग्र होकर आत्म-सुख की तलाश इस कविता की मूल विषयवस्तु है। गोल्डस्मिथ की इस कविता का राष्ट्रीय संदर्भ भी है। कविता में वे कई

---

[35] पाठक, पद्मधर, *श्रीधर पाठक ग्रन्थावली*, (भाग-2) आवरण पृष्ठ से उद्धृत

राष्ट्रों का चित्रण करते हैं और इन राज्यों की अपूर्णता को दर्शाते हैं। कवि का प्रतिपाद्य है कि इस उथल-पुथल भरे वातावरण में आत्मिक सुख और शांति सबसे महत्त्वपूर्ण निधि है। मशीनी सभ्यता के अंतर्विरोध इस शांति के सबसे बड़े बाधक तत्त्व हैं। इसीलिए पूंजीवादी मशीनी सभ्यता से विमुख होकर गोल्डस्मिथ प्रेम और ग्रामीण जीवन को तरजीह देते हैं।

औद्योगिक क्रान्ति ने विश्व के आर्थिक ढांचे को बदलकर रख दिया था। व्यक्ति एवं समाज दोनों इसके विचारों से प्रभावित हुए और समाज में धन का मूल्य बढ़ता गया। सुख व्यक्ति के लिए दुर्लभ हो गया। *श्रान्त पथिक* में कवि अपने भाई के बिछुड़ जाने और लोगों द्वारा अपनी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के त्याग से दुखी है। वह इस बात पर दुख प्रकट करता है कि आज व्यक्ति अपने मानवीय संबंधों को भूलता जा रहा है। आत्मसुख के लिए कवि आल्प्स पर्वत की चोटी पर जाकर बैठ जाता है। वह विचार करता है कि दुनिया के सभी देशों के लोग अपने-अपने देश को सबसे अच्छा समझते हैं। इस विचार-क्रम में कवि इटली, स्विट्जरलैंड, फ्रांस, हॉलैंड एवं इंग्लैंड के समाज पर चिंतन करता है। कवि का मत है कि राष्ट्रीयता की संकीर्ण भावना ही अलगाव और संघर्ष का कारण है। वह अंत में इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि आत्मसुख ही मनुष्य का परम सुख है और आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिए कहीं और जाने की जरूरत नहीं है। यह अपने गृह देश और अंतरात्मा में ही प्राप्त किया जा सकता है। यही *श्रान्त पथिक* का प्रतिपाद्य है।

उपर्युक्त अनुवादों के अतिरिक्त श्रीधर पाठक ने सन् 1884 में थॉमस ग्रे की काव्य-कृति *शेफर्ड एंड द फिलासफर* का *गड़रिया और आलिम* शीर्षक से अनुवाद किया। इसके बाद सन् 1886 में लांगफेलो के काव्य *इवेंजलाइन* का *अंजलैना* शीर्षक से और सन् 1895 में थॉमस पार्नेल की *हरमिट* का *योगी* नाम से अनुवाद किया था। सन् 1900 में उनके द्वारा गोल्डस्मिथ की ही एक अन्य रचना *क्लाउड मेमोरियल* के अनुवाद का भी उल्लेख मिलता है। श्रीधर पाठक के अनुवाद के विषय में डॉ. रमण सिन्हा लिखते हैं, "गोल्डस्मिथ काव्य में भावना, विषण्णता, प्रकृति-प्रेम एवं निष्कपट जीवन को तरजीह देते थे और जाहिर है कि ऐसे कविता की अपील जैसा कि लुई कजामियाँ ने लिखा है ऐसे कृषि प्रधान देश में सर्वाधिक होगी जो अभी-अभी औद्योगिक समाज की विसंगतियों को महसूस करना आरंभ किया हो।"[36]

अपने अनुवादों में श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ की मूल संवेदना को पूरी तरह भारतीय परिवेश में प्रस्तुत किया है। पूंजीवादी व्यवस्था के आधिपत्य से उपजी अमानवीय परिस्थितियाँ ही इन अनुवादों की प्रेरणा हैं। निस्संदेह श्रीधर पाठक का उद्देश्य हिन्दी समाज

---

[36] सिन्हा, रमण प्रसाद, *अनुवाद और रचना का उत्तर जीवन*, पृ. 54

के समक्ष पूंजीवादी व्यवस्था के दुष्परिणामों को दर्शाना रहा होगा। साथ ही, इन अनुवादों के माध्यम से वे मनुष्य और प्रकृति के साहचर्यपूर्ण जीवन की प्रतिष्ठा भी करना चाह रहे थे। अपने व्यक्तिगत जीवन में भी वे प्रकृति के अनन्य प्रेमी थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में समकालीन हिन्दी कवियों में पं. श्रीधर पाठक की चर्चा करते हुए उन्हें 'परिष्कृत रुचियों वाला कवि' कहा है। शुक्ल जी लिखते हैं, "अँगरेजी और संस्कृत दोनों के काव्य साहित्य का अच्छा परिचय रखने के कारण हिन्दी कवियों में पाठक जी की रुचि बहुत ही परिष्कृत थी।"[37] एक कुशल अध्येता ही अच्छा अनुवादक होता है। श्रीधर पाठक के अनुवाद इसका सबसे अच्छा प्रमाण हैं।

प. श्रीधर पाठक के पुत्र पद्मधर पाठक ने उनकी स्मृति में लिखा है कि "उन्होंने अपने कई अनुवादों को हिमालय के पहाड़ों में स्थित शिमला और मसूरी जैसे शहरों में पूरा किया था। उनके द्वारा किए गए अनुवाद देश के प्राकृतिक सौंदर्य के चित्रण के माध्यम से देश-प्रेम और राष्ट्रीय चेतना के प्रसार की भावना से ही प्रेरित थे।"[38]

पत्रकारिता और हिन्दी अनुवाद

अनुवाद कर्म हिन्दी पत्रकारिता के विकास की बुनियाद है। यह धारणा उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राष्ट्रीय जागरण के दौर की हिन्दी पत्रकारिता के संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक है। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी के राष्ट्रीय जागरण के काल में देश-विदेश की भाषाओं में उपलब्ध ज्ञान, विज्ञान, कला, संस्कृति, इतिहास, दर्शन आदि विषयों के अनुवाद के माध्यम से हिन्दी पत्रकारिता ने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चिंतन के विकास का वैचारिक आधार तैयार किया। भारत का श्रेष्ठ दार्शनिक चिंतन एवं ज्ञान संस्कृत भाषा में उपलब्ध था। इस युग के अनुवादकों ने जहाँ एक ओर हिन्दी पत्रिकाओं में संस्कृत साहित्य के नाटकों, श्रेष्ठ कवियों की जीवनी, रामायण, महाभारत और ऐसे ही अनेक उच्च मानवीय मूल्यों वाले ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित करके हिन्दी जाति को अपने प्राचीन साहित्य, इतिहास, संस्कृति, धर्म, दर्शन आदि का बोध कराया। वहीं दूसरी ओर देश की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के ऊपर लिखे जा रहे महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी एवं अन्य भारतीय भाषाओं के लेखों को आधार बनाकर इनके अनुवाद एवं आत्मसातीकरण के जरिए हिन्दी समाज को वैचारिक रूप से सजग किया।

---

[37] शुक्ल, रामचन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, पृ. 413

[38] पाठक, पद्मधर, *श्रीधर पाठक ग्रन्थावली*, (भाग-2), पृ. iii-vi

इस प्रकार हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में छपने वाले अनुवादों ने खड़ी बोली गद्य के स्वरूप को व्यवस्थित किया, और इनमें अभिव्यक्त राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय चिंतन से हिन्दी जाति में नवजागरणकालीन राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण की चेतना का अभूतपूर्व विस्तार हुआ। भारतेन्दु युग एवं द्विवेदी युग के सभी प्रमुख रचनाकार लेखक होने के साथ-साथ कुशल अनुवादक भी थे, जो किसी न किसी हिन्दी पत्रिका से जुड़े थे।

डॉ. रामविलास शर्मा भारतेन्दु की हिन्दी पत्रिका *कविवचन-सुधा* को शुद्ध साहित्यिक पत्रिका नहीं मानते थे। *कविवचन-सुधा* के लेखों का विश्लेषण करते हुए वे लिखते हैं, "कविवचन-सुधा का एक-एक पृष्ठ पवित्र है और एक दिन हिन्दी भाषी जनता उसके ऐतिहासिक महत्त्व को अवश्य समझेगी।"[39] वे आगे लिखते हैं, "कविवचन-सुधा यूरोप के नए ज्ञान-विज्ञान से हिन्दी पाठकों को परिचित कराती थी।"[40] बालमुकुंद गुप्त ने *कविवचन-सुधा* की लोकप्रियता का उल्लेख कुछ इस प्रकार किया था, "हरिश्चन्द्र के लेखों ने लोगों के जी में ऐसी जगह कर ली थी कि कविवचन-सुधा के हर नम्बर के लिए लोगों को टकटकी लगाये रहना पड़ता था।"[41] हिन्दी समाज के लोगों को यूरोप के ज्ञान-विज्ञान से परिचय कराने का उद्यम यूरोपीय एवं अंग्रेजी भाषा में लिखी गई महत्त्वपूर्ण रचनाओं एवं लेखों के अनुवाद अथवा आत्मसातीकरण के जरिए ही किया गया होगा।

ब्रिटिश राज को उन्नीसवीं सदी की पत्रकारिता की यह राष्ट्रीय चेतना अखरने लगी थी। इसीलिए भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होने वाले पत्र-पत्रिकाओं के राष्ट्रीय स्वर को दबाने और इन पर नियंत्रण स्थापित करने के लिए लॉर्ड लिटन ने सन् 1878 में *देशी भाषा अधिनियम* लागू किया। इस अधिनियम के बाद सैकड़ों पत्रिकाओं का प्रकाशन बंद हो गया। इसी अधिनियम से बचने के लिए शिशिर कुमार घोष ने कलकत्ता से प्रकाशित होनी वाली अपनी *अमृत बाजार पत्रिका* की भाषा को रातोंरात बदलकर अंग्रेजी कर दिया था, जो भारतीय पत्रकारिता के इतिहास का एक अद्‌भुत प्रसंग है।

ब्रिटिश राज के कठोर कानूनों एवं दमन की नीति से बचने के लिए राजनीतिक विषयों पर मौलिक लेख लिखने की बजाए अनुवाद को ढाल के रूप में प्रयोग किया जाने लगा और

---

[39] शर्मा, रामविलास, *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ*, पृ. 95

[40] वही, पृ. 97

[41] ब्रजरत्नदास, *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र*, पृ. 107

भारतीय भाषाओं एवं अंग्रेजी में लिखे जा रहे उत्कृष्ट साहित्य एवं ज्ञान-विज्ञान का बड़े पैमाने पर हिन्दी अनुवाद किया गया। इन अनुवादों ने हिन्दी समाज के समक्ष ब्रिटिश राज के औपनिवेशिक स्वरूप की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत की, और हिन्दी जाति को अपने राष्ट्रीय उद्देश्यों प्रति एकजुट होने के लिए प्रेरित किया। यह एक तरह का सांस्कृतिक प्रतिरोध था, जिसमें अनुवाद की भूमिका ऐतिहासिक थी। आगे चलकर, द्विवेदी युग की पत्रकारिता में भी हिन्दी अनुवादों के माध्यम से राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण को अभिव्यक्ति मिली, और हिन्दी ज्ञान-परंपरा का अभूतपूर्व विस्तार हुआ।

सरस्वती पत्रिका के अनुवाद

सरस्वती पत्रिका के हिन्दी अनुवादों के माध्यम से राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण को एक नई अभिव्यक्ति मिली, और हिन्दी ज्ञान-परंपरा का अभूतपूर्व विस्तार हुआ। डॉ. रामविलास शर्मा का मत है "सरस्वती सबसे पहले ज्ञान की पत्रिका थी, वह हिन्दी नवजागरण का मुख पत्र थी, और हिन्दी भाषी जनता की सर्वमान्य जातीय पत्रिका थी।"[42]

सम्पत्ति शास्त्र द्विवेदी युग की एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। डॉ. रामविलास शर्मा इसे एक मौलिक कृति मानते हैं, पर रामविलास जी से पहले का "हिन्दी जगत् सम्पत्ति शास्त्र को एक अनूदित पुस्तक मानता था।"[43] *सम्पत्ति शास्त्र* पुस्तक के पीछे आचार्य द्विवेदी का उद्देश्य अठारहवीं सदी के भारतीय अर्थतंत्र का अध्ययन करना था। "इसके अंश 1907 में 'सरस्वती' में ही प्रकाशित हुए और पूरी पुस्तक 1908 में प्रकाशित हुई।"[44] *सम्पत्ति शास्त्र में* आचार्य द्विवेदी ने 'होम चार्जेज', 'ड्रेन ऑफ वेल्थ' आदि ऐसी कई आर्थिक अवधारणाओं का विवेचन किया है, जो *संपत्ति शास्त्र* के प्रकाशन से पहले दादा भाई नौरोजी एवं आर.सी. दत्त की अंग्रेजी पुस्तकों एवं लेखों में प्रकाशित हो चुके थे। *संपत्ति शास्त्र* में प्रयुक्त आर्थिक अवधारणाएँ मौलिक नहीं थीं। ये दादा भाई नौरोजी के *पावर्टी ऐंड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया* (सन् 1901), और आर.सी. दत्त की *इकनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया* (सन् 1904) का अनुवाद थीं। आचार्य द्विवेदी ने *संपत्ति शास्त्र* में इन्हीं विद्वानों के विचारों को आत्मसातीकृत

---

[42] शर्मा, रामविलास, *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण*, पृ. 360

[43] शर्मा, रामविलास, *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण*, पृ. 378

[44] वही, पृ. 16

किया है। नौरोजी एवं दत्त के आर्थिक विचारों का अनुवाद सिर्फ *संपत्ति शास्त्र* में ही नहीं हुआ, *सरस्वती* पत्रिका के कई मौलिक लेख इन विचारों के अनुवाद की ही उपज हैं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी राजनीतिक विषयों पर सीधे-सीधे लिखने से बचते थे और दूसरे लेखकों को भी इसके लिए मना करते थे। पर *सरस्वती* पत्रिका में उन्होंने ऐसे अनेक लेखों के अनुवाद प्रकाशित किए जिनके विषय राष्ट्रीय जागरण की भावना से जुड़े थे। इस पत्रिका में भारतीय ज्ञान-परंपरा के प्राचीन ग्रन्थों पर लेख लिखे गए और बांग्ला, मराठी तथा अनेक विदेशी भाषाओं में उपलब्ध वैचारिक चिंतन का अनुवाद प्रकाशित किया गया।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका के अनुवाद

सरस्वती पत्रिका से पहले *नागरी प्रचारिणी पत्रिका* में कई महत्त्वपूर्ण अनुवाद प्रकाशित हुए थे। इस पत्रिका में न केवल सम-सामयिक बल्कि अनेक राष्ट्रीय विषयों पर कई अनुवाद प्रकाशित हुए थे। इन अनुवादों की अंतर्वस्तु भारत के पुरातन सांस्कृतिक मूल्यों एवं राष्ट्रीय जागरण के वृहत्तर संदर्भों से जुड़ी थी, जिसका अध्ययन युगीन परिस्थितियों के आलोक में ही संभव है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा अंग्रेजी से अनूदित कई लेख *नागरी प्रचारिणी पत्रिका* ही में प्रकाशित हुए थे। इनमें से कई लेख आज उपलब्ध नहीं हैं। *नागरी प्रचारिणी पत्रिका* (संख्या 33-34) में ही उनके द्वारा हैकेल के *रिडल ऑफ द युनिवर्स* का *विश्व प्रपंच* अनुवाद सन् 1920 में प्रकाशित हुआ। शुक्ल जी ने प्रो. एस. कृष्णस्वामी आयंगर (सन् 1871-1946) के *इंडियन एंटिक्वेटी* के दो लेखों का *भारत के इतिहास में हूण* एवं *बुद्धघोष* तथा ऑलिवर लॉज के एक निबंध का *अखंडत्व* शीर्षक से अनुवाद किया था। ये अनुवाद भी *नागरी प्रचारिणी* पत्रिका में प्रकाशित हुए थे।

माधवराव सप्रे की पत्रकारिता, अनुवाद और राष्ट्रीय चिंतन

माधवराव सप्रे नवजागरण के दौर में ऐसे राष्ट्रीय चिंतक पत्रकार के रूप में सामने आते हैं, जिन्होंने पत्रकारिता के माध्यम से अपनी भाषा और अपने क्षेत्र के बदले हिन्दी भाषा और क्षेत्र के जागरण का ऐतिहासिक प्रयत्न किया। इसके लिए उन्हें अंग्रेजी राज के दमन का सामना भी करना पड़ा था। सप्रे जी मूलतः मराठी भाषी थे। इन पर तिलक के विचारों का गहरा प्रभाव था। पत्रकार होने के कारण सप्रे जी देश की बात करते थे, और समाज एवं राष्ट्र के प्रश्नों पर निर्भीक होकर लिखते थे। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उन्होंने तिलक की

मराठी पत्रिका *केसरी* की तर्ज पर हिन्दी में *केसरी* पत्रिका निकाली थी, जिसका लक्ष्य हिन्दी समाज में राष्ट्रवादी विचारों का प्रचार-प्रसार करना था। इसी पत्रिका के अंग्रेजी-राज विरोधी विचारधारा के कारण सप्रे जी को जेल जाना पड़ा था। जेल से लौटने के बाद परिवार के दबाव में उन्होंने राजनीतिक लेखन की बजाए ज्ञान के विस्तार के माध्यम से नवजागरण की चेतना के विस्तार का कम शुरू कर दिया। इस प्रयास में उन्होंने पहला हिन्दी अनुवाद समर्थ रामदास की पुस्तक *दासबोध* का किया था, जो सन् 1912 में प्रकाशित हुआ। माधवराव सप्रे का दूसरा महत्त्वपूर्ण अनुवाद सन् 1915 में तिलक के *गीता रहस्य* का किया। बाद में उन्होंने *महाभारत* का भी अनुवाद किया।[45]

माधवराव सप्रे की विचारधारा उनके द्वारा अनूदित लेखों से स्वतः ही स्पष्ट हो जाती है। *इंडियन रिव्यू* के दिसंबर, 1912 के अंक में प्रकाशित एक लेख का उन्होंने *राष्ट्रीय जागृति की मीमांसा* नाम से अनुवाद किया। इस अनुवाद में उन्होंने 'जाति प्रथा' का विरोध किया। सन् 1907 में सप्रे जी ने *इटालियन देशभक्त मेजिनी* शीर्षक से मेजिनी के विचारों के अनुवाद के आधार पर एक मौलिक निबंध लिखा, जो स्वदेशी आंदोलन के संदर्भ में अत्यंत प्रासंगिक था। "सप्रे जी काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा हिन्दी के विज्ञानकोश के निर्माण के कार्यक्रम का भी हिस्सा बने थे। उनके संपादकत्व में सभा ने *राजनीतिक अर्थशास्त्र की शब्दावली* तैयार की, जिसमें अंग्रेजी के 1320 शब्दों के लिए हिन्दी के 2115 शब्द निर्मित हुए थे। स्पष्टतः हिन्दी में अर्थशास्त्र के लेखन का आधार तैयार करने वालों में इनका नाम प्रमुख है।"[46]

यूरोपीय एवं अन्य देशी भाषाओं के महत्त्वपूर्ण लेखों के अनुवाद को प्रकाशित करके *सरस्वती* और इस युग की अन्य पत्रिकाओं ने लोगों को वैचारिक रूप से सजग और समृद्ध किया तथा इनमें नवजागरण की प्रगतिशील चेतना का विस्तार किया। द्विवेदी युग की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित अनुवादों के माध्यम से हिन्दी जाति को भारत के प्राचीन सांस्कृतिक मूल्यों का बोध हुआ और इन्हें राष्ट्रीय प्रश्नों को देखने-समझने की एक नवीन दृष्टि मिली। लोगों को देश की राष्ट्रीय-सामाजिक दशा के प्रति सचेत करने और नवजागरणकालीन मूल्यों के प्रसार में इन अनुवादों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही।

---

[45] पाण्डेय, मैनेजर, *माधवराव सप्रे का महत्त्व,* महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा के अभिक्रम *हिन्दी समय* से दिनांक 23.10.2021 को उद्धृत

[46] वही

चौथा अध्याय

द्विवेदी युग में भारतीय भाषाओं से अनुवाद : राष्ट्रीय चेतना का प्रसार

- भारत की बहुलतावादी संस्कृति और अनुवाद
- स्वाधीनता आन्दोलन में हिन्दी अनुवाद की भूमिका
- भारतीय भाषाओं से हिन्दी में होने वाले अनुवादों का एक परिचय

चौथा अध्याय

द्विवेदी युग में भारतीय भाषाओं से अनुवाद : राष्ट्रीय चेतना का प्रसार

अनुवाद ज्ञानात्मक विकास का प्रमुख आधार है। अनुवाद की वजह से ही हमारी भाषा की सीमा हमारे ज्ञान की सीमा नहीं बन पाती है। भारत एक बहुभाषा-भाषी देश है जहां एक साथ विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों को मानने वाले लोग रहते हैं। भारत में प्रांतों का गठन भाषाई आधार पर किया गया है। ऐसे में देश की आंतरिक सुरक्षा और अखंडता इस बात पर निर्भर करती है कि अलग-अलग भाषा और संस्कृति वाले लोग आपस में संवाद कितना कर पाते हैं। संवादहीनता की स्थितियाँ ही आगे चलकर अलगाव का आधार बनती हैं। अनुवाद भिन्न-भिन्न संस्कृतियों को एक साथ जोड़ने का काम करता है। ऐसे में भारत की बहु-सांस्कृतिक राष्ट्र की पहचान को बनाए रखने में अनुवाद की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

भारत की बहुलतावादी संस्कृति और अनुवाद

ओम प्रकाश गाबा के अनुसार राजनीतिक-सिद्धांत के अंतर्गत बहुलतावाद शब्द का प्रयोग मुख्यतः दो संदर्भों में होता है। वे लिखते हैं, "एक राजनीतिक मान्यता के रूप में, जिसके अनुसार समाज में किसी एक मूल्य, साध्य या ध्येय को सर्वोपरि मानकर सब मनुष्यों को उसके अनुरूप ढालने का प्रयत्न उचित नहीं है, बल्कि भिन्न-भिन्न मूल्यों और हितों के आधार पर स्वायत्त समूहों के गठन की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए, और व्यक्तियों को अपने-अपने

विवेक के अनुसार इनमें से किसी भी मूल्य या ध्येय के साथ जुड़कर उसे बढ़ावा देने की पूर्ण स्वतंत्रता होना चाहिए।"[1] इस विचार को बहुलतावाद का दार्शनिक आधार माना जा सकता है। दूसरा "लोकतंत्रीय समाज के संगठन के सिद्धांत के रूप में, जिसके अनुसार उदार लोकतंत्र के अंतर्गत सार्वजनिक निर्णय अनेक स्वायत्त समूहों की सौदेबाजी का परिणाम होते हैं; अतः सार्वजनिक नीति के अंतर्गत समाज के महत्त्वपूर्ण हितों में सामंजस्य की गुंजाइश रहती है- इसे हम 'राजनीतिक बहुलवाद' कहते हैं।"[2]

भारत की सभी भाषाओं को सीख पाना किसी भी भारतीय के लिए संभव नहीं है। ऐसे में किसी भारतीय भाषा में उपलब्ध ज्ञान अनुवाद के माध्यम से ही दूसरी भारतीय भाषा में उपलब्ध होता है। इन अर्थों में भारत के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक स्वरूप के निर्माण में अनुवाद की एक निश्चित भूमिका है और इसीलिए अनुवाद भारतीय समाज की एक बड़ी जरूरत है। न केवल भारत बल्कि दुनिया के बहुत सारे देशों में सामाजिक-सांस्कृतिक विकास का वैचारिक आधार तैयार करने में अनुवाद की ऐतिहासिक भूमिका रही। अनुवाद दुनिया के सभी नागरिक समाजों में जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों में हमेशा मौजूद रहा है। आज अनुवाद का दायरा इतना व्यापक हो चुका है कि इसकी एक सर्वमान्य परिभाषा देना अत्यंत कठिन है। इन अर्थों में अनुवाद महज भाषांतरण नहीं है, उससे कहीं आगे है। किसी भी वस्तु के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ज्ञान के अमूर्त बिंबों को शब्दों, प्रतीकों, संकेतों लिखित या मौखिक किसी भी रूप में अभिव्यक्त करना ही अनुवाद है।

भारतीय साहित्य और तुलनात्मक साहित्य जैसी अवधारणाओं का विकास भी अनुवाद के माध्यम से ही संभव हो पाया है, जिससे अकादमिक अध्ययन के क्षेत्र का व्यापक विस्तार हुआ। प्रो. देवशंकर नवीन ने अपनी पुस्तक *अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य* में तुलनात्मक साहित्य और अनुवाद के अन्तःसंबंधों पर विचार करते हुए लिखा है कि तुलनात्मक साहित्य में एक से अधिक भाषाओं, संस्कृति या राष्ट्रीय समूहों के साहित्य के पारस्परिक अध्ययन किया जाता है। प्रायः भिन्न-भिन्न साहित्यों के बीच पारस्परिक अध्ययन के बावजूद कई बार यह समान भाषा के कला-क्षेत्रों में भी लागू होता है, जब कला का मूल उन अलग-अलग राष्ट्रों या संस्कृतियों से आरंभ होता है, जहां वह भाषा प्रयुक्त होती है। कभी-कभी कलारूपों की भिन्नताओं से भी यह लागू होता है, जैसे मूर्तिकला और साहित्य, सिनेमा और साहित्य आदि।

---

1 गाबा, ओम प्रकाश, *राजनीति विज्ञान विश्वकोश*, पृ. 542

2 वही, पृ. 543

कई बार इतिहास, राजनीति, दर्शन, विज्ञान सहित मानवीय गतिविधि के अन्य क्षेत्रों से साहित्य के सरोकार तुलनात्मक साहित्य के फलक में समा जाते हैं।

दुनिया की किसी भी भाषा में उस भाषा को बोलने वाले समाज की संस्कृति मौजूद होती है। और प्रत्येक भाषा में अभिव्यक्ति की एक विशेष शैली का प्रयोग किया जाता है। अभिव्यक्ति की यह प्रक्रिया अनुवाद ही है। महान ग्रीक दार्शनिक प्लेटो का मानना था कि विचार रूप में प्रत्यय जगत ही वास्तविक है, सत्य है, दृश्यमान जगत उसका अनुकरण है। कला अनुकरण का अनुकरण है। आगे चलकर प्लेटो के शिष्य अरस्तु ने अनुकरण की सृजनात्मकता पर जोर देते हुए कला और कलाकार के महत्त्व को स्थापित किया। अनुवाद के कुछ सिद्धांतकारों ने प्लेटो और अरस्तु के अनुकरण सिद्धांत में भी अनुवाद-प्रक्रिया का उत्स ढूँढने का प्रयास किया है। प्रो. देवशंकर नवीन का मत है "हर पाठ अनूदित भाषा के नए रूप में आकर भावक को यह सुअवसर प्रदान करता है कि वह लक्ष्य भाषा में विवेचित पाठ के संस्कृति सन्दर्भ, सामाजिक आचार-विचार, जीवन-यापन, रहन-सहन, प्रेम-संघर्ष, द्वन्द्व-दुविधा के मूल स्वरूप से परिचय करे, उसे जाने, और अपने भौगोलिक परिवेश और सामाजिक सांस्कृतिक सन्दर्भों से उसका साक्षात्कार करते हुए, अपना तथा अपनी सांस्कृतिक समझ का विकास करे। दरअसल संस्कृति एक अमूर्त, सूक्ष्म और अपरिभाषेय बिम्ब है, इसे समझा तो जा सकता है, पर उंगली रखकर बताया जाना कठिन है कि संस्कृति यह है, एक जगह बता भी दें कि इस भूखण्ड, इस समुदाय के लोगों की संस्कृति यह है, तो अगले ही क्षण फिर दूसरी परिभाषा देनी पड़ जाएगी। मानव-सभ्यता के विकास-क्रम सदियों के आचार-विचार, आहार-व्यवहार, रहन-सहन, जीवन-यापन, सम्बन्ध-सरोकार की प्रथा-परम्परा की परिणति और प्रतिफल की एक शृंखला है जो मनुष्य के जीवन की तरह ही गतिशील और अग्रोन्मुख होती है और इनकी संचरण क्षमता इतनी तेज होती है कि किस रास्ते, किस क्षण इसमें नए किसलय खिल जाएँ, पता नहीं चलता। आज सम्पूर्ण भारतीय परिवेश के पहनावे-ओढावे, खान-पान, बोली-बानी, आहार-व्यवहार में आई सार्वत्रिकता के मद्देनजर इस बात को रेखांकित करना बड़ा आसान होगा।"[3]

---

[3] https://deoshankarnavin.blogspot.com/2011/01/blog-post.html से दिनांक 21.10.2021 को उद्धृत

प्रो. देवशंकर नवीन का यह भी मानना है "अन्तोनियो ग्राम्शी की राय में कोई भाषा, जनपद की संस्कृति का ही रूप होती है। उन्होंने समान भाषा-भाषी लोगों की अभिव्यक्ति में ऐतिहासिक और सामाजिक रहने वाले भाषाई अन्तर को मुक्त कण्ठ से स्वीकारा है। यह अन्तर व्यक्ति की सामाजिक हैसियत, ऐतिहासिक सूत्र पारम्परिक सम्बन्ध पद्धति, वर्ग-भेद के कारण भाषा प्रयोग की विधियाँ, आर्थिक-शैक्षिक हैसियत के कारण उसके बोध का स्तर आदि पर निर्भर करता है। इसके साथ-साथ संचार-माध्यमों के फैलाव और अनुवाद-कार्य द्वारा जो विचारों का विनिमय स्थानान्तरण होता है, और आगत विचारों का उस सामाजिक परिवेश में अधिग्रहण होता है, उससे वहाँ की संस्कृति, वहाँ के नागरिक जीवन की प्रक्रिया प्रभावित हुए बगैर नहीं रह पाती है। नागरिक परिदृश्य का रहन-सहन, वेश-भूषा, खान-पान, आहार-व्यवहार, तीज-त्यौहार...सब के सब उससे प्रभावित होता है। यह बात सच है कि हर जनपद के साहित्य का सीधा सम्बन्ध वहाँ की भाषा में अनुगुम्फित होता है, किन्तु इसके साथ सच्चाई यह भी है कि वह भाषा खुद ही वहाँ के नागरिक जीवन की उपज होती है। हर क्षेत्र की भाषा के सुस्थिर स्वरूप में वहाँ के नागरिक जीवन का अतीत मौजूद रहता है, जो जनपदीय संस्कृति से रससिक्त रहती है।"[4]

भक्ति आन्दोलन की जिस समन्वित और समग्र मानवीय अवधारणा तथा सांस्कृतिक दृष्टि की चर्चा होती है वह *रामायण* और *महाभारत* के अनुवाद, पुनर्सृजन और आत्मसातीकरण के कारण ही संभव थी। इन ग्रन्थों का विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओं में अनुवाद हुआ जिन्हें आज अपनी-अपनी भाषा का मौलिक और आधार ग्रन्थ माना जाता है। उदाहरण के लिए गुरु नानक ने *गुरु ग्रन्थ साहिब* में जो लिखा वह पहले से ही चले आ रहे मौखिक या लिखित साहित्य और ज्ञान का पुनर्कथन ही था। पर इसमें नानक जी ने अपने युगीन संदर्भों का भी समावेश किया जिसके कारण यह और ज्यादा प्रासंगिक बन सका। उन्होने विभिन्न धर्म ग्रन्थों से संकलन किया। अनुवाद के जरिए जब कोई साहित्य किसी दूसरी भाषा में अनूदित होता है तो स्रोत-भाषा का पाठ, लक्ष्य-भाषा में अपने साथ पूरी परम्परा, रहन-

[4] https://deoshankarnavin.blogspot.com/2011/01/blog-post.html से दिनांक 21.10.2021 को उद्धृत

सहन, खान-पान, वेश-भूषा, आहार-व्यवहार, सम्बन्ध-सरोकार, बिम्ब-प्रतीक, मिथक और यथार्थ के साथ ही जाता है। "परंतु अनुवाद के जरिए जब कोई संस्कृति किसी दूसरे परिवेश में पहुँचती है तो वहाँ वह वैसी की वैसी नहीं रह जाती। या तो वह वहाँ की मौजूदा संस्कृति में प्रविष्ट होकर अपने लिए जगह बना लेती है, या वहाँ के नागरिक जीवन की सुविधा के मद्देनजर अपने को पुनर्गठित कर लेती है, या फिर वहाँ की संस्कृति के साथ मिलकर एक अलग ही संस्कृति निर्मित कर देती है। यह स्थिति वाचिक-परम्परा के पाठ के साथ तो कई बार हो जाती है। कभी-कभी सामान्य पाठ के साथ भी होता है। भक्ति-आन्दोलन की कई रचनाएँ इसका उदाहरण हो सकती हैं। प्रचार-प्रसार के दौरान नेपाल, चीन, तिब्बत, खोतानी, ब्रह्मदेश, इण्डोनेशिया, मध्य जावा, बाली द्वीप, मलय द्वीप, सिंहल देश, अरब-इरान, यूरोप आदि में रामकथा का स्वरूप परिवर्तित होते-होते जैसा हो गया है, उसमें यही पद्धति कारगर रही होगी। यदि विश्व फलक पर लोक-साहित्य का अनुशीलन करें तो यह बात और साफ-साफ दिखेगी। कई अफ्रीकी लोक-कथाएँ ऐसी हैं, जो बिहार में या भारत के कई भूखण्डों में अपने स्थूल रूप में एक-सी हैं, पर हर भाषा में जाकर वह वहाँ के नागरिक जीवन के साथ रचने-बसने के क्रम में स्थानीय आवरण और वेशभूषा की हो गई हैं। ठीक यही बात भारत के भीतर ही विविध राज्यों-क्षेत्रों की लोक-कथाओं के बारे में कही जा सकती है। यहाँ तक कि रामायण, महाभारत तक का जो अनुवाद विविध भाषाओं में हुआ है, उसमें भी स्थानीय व्यवहार होते गए हैं। और जब एक ही देश में सांस्कृतिक संचरण का यह वैविध्य हो जाए तो फिर विदेशी भाषाओं के साथ क्यों न हो।"[5]

हर जनपद की भाषा अपनी सांस्कृतिक अस्मिता के साथ ही महत्त्वपूर्ण होती है। और हर जनपद की सांस्कृतिक धारा मूल पाठ में कई स्तरों तक रची बसी होती है। इस पूरी प्रक्रिया में जब स्रोत-भाषा का सन्देश लक्ष्य-भाषा में पहुँचता है, तब अनुवादक के लाख प्रयास के बावजूद उसकी मौलिकता अपने मूल सन्दर्भ से गहरे जुड़ाव के कारण बची ही रहती है। भाषान्तरण की इसी प्रक्रिया में एक जनपद की संस्कृति का दूसरी भाषा की संस्कृति

[5] https://deoshankarnavin.blogspot.com/2011/01/blog-post.html से दिनांक 21.10.2021 को उद्धृत

में कायान्तरण होता है। "भारत जैसे बहुसांस्कृतिक, बहुभाषिक देश में दो भाषा-भाषी क्षेत्रों की संस्कृतियों का संवर्धन-संचरण इसी रास्ते होता है। इन अर्थों में अनुवाद के जरिए न केवल एक भाषा का सन्देश दूसरी भाषा के पाठक तक पहुँचता है, बल्कि सबसे पहले दो संस्कृतियों का आपस में परिचय होता है, फिर इनमें संघर्ष होता है, और, उसके बाद फिर विकास होता है। यह कहने में कोई हिचक नहीं होनी चाहिए कि अनुवाद संस्कृतियों और विचारों की सुदूर यात्रा की सरणि भी है, और इस तरह राष्ट्रीय एकीकरण में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।"[6]

इस तरह अनुवाद "राष्ट्रीय एकीकरण में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अधिक पीछे न जाकर सन् 1857 से सन् 1947 तक के 90 वर्षों के अनूदित साहित्य पर ही विचार करें, तो बातें बहुत सफाई से सामने आती हैं। या फिर भारतीय साहित्य की केवल स्वातंत्र्योत्तरकालीन अनुवाद में बंकिम, शरत, रवीन्द्र, प्रेमचंद, निराला, नागार्जुन, महाश्वेता, वैकम, मुहम्मद बसीर, शिवराम कारन्त, यू आर अनन्तमूर्ति, केसव रेड्डी, पन्नालाल पटेल, समुत्तिरम, भालचन्द्र नेमाडे, कर्तार सिंह दुग्गल आदि की रचनाओं के विभिन्न भाषाओं में हुए अनुवाद को देखकर, राष्ट्रीय फलक पर सांस्कृतिक सौहार्द की जितनी स्पष्ट छवि बनती है, उसका सारा श्रेय अनुवाद कार्य को ही जाता है।"[7]

भारत की सांस्कृतिक विविधता को बनाए रखने और पूरे राष्ट्र को एक सूत्र में जोड़ने में प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक अनुवाद की ऐतिहासिक भूमिका रही है। भारत जैसे क्षेत्रीय असमानतों और भिन्न-भिन्न भाषाओं वाले देश में समावेशी राष्ट्रवाद और विविधता में एकता जैसी विशिष्ट सामाजिक-राजनीतिक अवधारणाओं के सफल होने और भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित और एकीकृत बनाए रखने में अनुवाद ने अभूतपूर्व भूमिका निभाई है।

स्वाधीनता आन्दोलन में हिन्दी अनुवाद की भूमिका

हिन्दी साहित्य में बीसवीं सदी का आरंभ भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के क्रमिक विकास और राष्ट्रीय आंदोलनों के लोकप्रिय होने का दौर था। इस समय पूरे देश में ब्रिटिश राज के

---

6 वही

7 नवीन, देवशंकर, *अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य,* पृ. 137

विरुद्ध असंतोष का स्वर संगठित रूप से मुखरित होने लगा था और लगभग सभी भारतीय भाषाओं के मौलिक और अनूदित साहित्य में देश-प्रेम एक प्रमुख विषय-वस्तु के रूप में स्थापित होने लगा था। इस समय के भारतीय साहित्य एवं लेखों में अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों से भारतीय साहित्यकारों एवं लेखकों की स्पष्ट असहमति देखने को मिलती है।

यह हिन्दी खड़ी बोली के निर्माण और स्थापना का काल भी था। इस दौर में भारतीय साहित्य की नवजागरण संबंधी चिंता-धारा हिन्दी में अनुवादों के माध्यम से प्रवाहित होती दिखाई देती है। इस काल-खण्ड में स्वाधीनता संग्राम के नेताओं एवं समाज सुधारकों के विचारों का हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में प्रचुर मात्रा में अनुवाद हुआ। दादा भाई नौरोजी और रमेश चंद्र दत्त के आर्थिक विचारों को लगभग सभी महत्त्वपूर्ण हिन्दी लेखकों ने अपनी रचनाओं में जगह दी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशनों में पारित किए जाने वाले प्रस्ताव को हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित किए गए। कांग्रेस की कार्यप्रणाली में हिन्दी के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए राष्ट्रपिता महात्मा गांधी ने विशेष प्रयास किए। उनके प्रयासों एवं प्रेरणा से हिन्दीतर भाषा-भाषी नेताओं ने हिन्दी सीखी और कांग्रेस के अधिवेशनों में हिन्दी राष्ट्रीय एकता को मजबूत करने वाली सर्वमान्य भाषा के रूप में स्वीकृत हुई। सन् 1885 में कांग्रेस की स्थापना से राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नई दिशा मिल गई थी।

उन्नीसवीं शताब्दी में हुए धर्म-सुधार आन्दोलनों से भारतीय जनमानस में ठोस वैज्ञानिक चिंतन का विकास होने लगा था। लोगों में अपनी संस्कृति के प्रति गौरव का भाव जाग्रत हुआ और पश्चिमी बौद्धिक विचार-प्रणाली के आधार पर भारतीय संस्कृति के बारे में नवीन चिंतन का मार्ग प्रशस्त होने लगा। भारतीय नवजागरण के आलोक में मानवतावादी दृष्टिकोण से लोकोन्मुखी दृष्टि को प्रमुखता मिली। सन् 1905 के स्वदेशी आन्दोलन ने स्वाधीनता की चेतना को मजबूत किया, भारतीयता पर बल दिया और भारतीयों में आत्म-गौरव के भाव का प्रबल संचार किया।

भारतीय विद्वानों एवं चिंतकों ने भारत की प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति की व्याख्या करके यह दर्शाने का प्रयास किया कि ब्रिटिश संस्कृति के जिन विचारों को प्रगतिशील कहकर प्रचारित किया जा रहा है, उसके उदाहरण भारत के प्राचीन समाज में पहले से ही विद्यमान हैं। इस उद्यम ने सांस्कृतिक पुनरुत्थान की जमीन को और सुदृढ़ किया। राम, कृष्ण, शिवाजी जैसे नायकों के चरित्रों को लेखन का केंद्र बनाया गया। वेद, पुराण तथा गीता जैसे प्राचीन ग्रंथों के शाश्वत मूल्यों एवं विचारों को जनता के समक्ष पुनः प्रस्तुत किया गया। इस युग में भारतेन्दु युग का वैचारिक द्वंद्व कम हो गया था।

द्विवेदी युग के साहित्यकारों की मौलिक रचनाओं में भी स्वाधीनता, देशभक्ति और राष्ट्रीयता के स्वर स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होने लगे। कुल मिलाकर इस युग के साहित्य में राष्ट्रीय चेतना के विचार मूर्त रूप में अभिव्यक्त होने लगे थे। महात्मा गांधी ने अंग्रेजी को राष्ट्र भाषा के रूप में अपनाने से अस्वीकार कर दिया था और हिन्दुस्तानी को राष्ट्र भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का लक्ष्य बना लिया था। गांधी जी के विचारों के अनुसार इस समय हिन्दी की सेवा करना एक राष्ट्रीय कार्य बन गया था। इस कालखण्ड में बांग्ला और मराठी भाषा से होने वाले अनुवादों ने हिन्दी खड़ी बोली साहित्य को विशेष रूप से राष्ट्रवादी मूल्यों के प्रति सजग किया और लोगों को स्वाधीन चिंतन के प्रति उन्मुख किया।

देशेर कथा का राष्ट्रीय संदर्भ

देश की बात सखाराम गणेश देउस्कर द्वारा लिखित *देशेर कथा* का हिन्दी अनुवाद है। *देशेर कथा* का पहला अनुवाद माधव प्रसाद मिश्र एवं अमृत लाल चक्रवर्ती ने सन् 1907 तथा दूसरा अनुवाद बाबू राव विष्णु पराड़कर ने सन् 1910 में प्रकाशित किया था। बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन में *देशेर कथा* का ऐतिहासिक महत्त्व है। इस पुस्तक के बारे में माधव प्रसाद मिश्र ने सन् 1908 में लिखा, "बरीसाल के वीर स्वदेश हितैषी बाबू अश्विनी कुमार दत्त ने अपनी कालीघाट वाली वक्तृता में कहा था कि इतने दिनों तक सरस्वती की आराधना करने पर भी बंगालियों को मातृभाषा में वैसा उपयोगी ग्रंथ लिखना न आया जैसा एक परिणामदर्शी महाराष्ट्र युवा ने लिख दिखाया। बंगालियों, इस ग्रंथ को पढ़ो और अपने देश की अवस्था और निज कर्त्तव्य पर विचार करो।"[8]

देशेर कथा पुस्तक को अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई। इस पुस्तक के प्रकाशित होने की परिस्थितियों पर माधव प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि "लार्ड कर्जन के कुचक्र पूर्ण शासन से लोग शंकित हो चुके थे, पर उनकी मोहमयी निद्रा तब तक भी टूटने नहीं पाई थी। बंगाल के शिक्षित लोग आमोद-प्रमोद में लग रहे थे और कितने ही सौंदर्योपासक मूकाभिनय अपूर्व कौतुक कर कृत्रिम रमणीयता का बाजार खोल रहे थे। उपन्यास और नाटकों में श्रृंगार रस की प्रधानता हो रही थी और बंगाल के बहुत से बड़े आदमियों का समय उसी के आकलन में पूरा हो रहा था। यह किसी को ध्यान भी न था कि उनके देश की कैसी सोच्य दशा हो रही है और आगे कैसा परिवर्तन होने वाला है।"[9] इन परिस्थितियों में इस पुस्तक के प्रकाशन ने बंगाल के बौद्धिक वर्ग में एक बड़ी हलचल पैदा कर दी। स्वदेशी आन्दोलन को इस पुस्तक ने शक्ति और

---

[8] देउस्कर, सखाराम गणेश, *देश की बात,* पृ. 7

[9] वही, पृ. 8

गति दी तथा अनेक रूपों में प्रभावित किया। *देशेर कथा* की लोकप्रियता का अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि सन् 1904 से 1908 के बीच महज 5 वर्षों में इस पुस्तक के 5 संस्करण निकले और इसकी 13000 प्रतियां प्रकाशित हुईं।

सखाराम गणेश देउस्कर ने *देशेर कथा* की रचना स्वाधीनता की चेतना को जगाने के लिए ही किया था। देउस्कर ने अंग्रेजी शासन के गुण-दोष, देश की अवस्था, देशी कारीगरी का नाश, कारीगरों का सर्वनाश, स्वदेशी आन्दोलन, किसानों का सर्वनाश, आय और व्यय, बट्टे से हानि और प्रतिकार का उपाय जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों को शामिल करते हुए *देशेर कथा* में ब्रिटिश राज की साम्राज्यवादी नीति की आलोचना प्रस्तुत की और औपनिवेशिक तंत्र की जंजीरों में जकड़ी भारतीय जनता पर होने वाले अत्याचारों को उजागर किया।

उन्होंने न केवल अंग्रेजी राज की आलोचना की बल्कि कांग्रेस के आन्दोलन करने की रीति-नीति का भी खंडन किया। उनका मानना था, "हमारे आन्दोलन भिक्षुक के आवेदन मात्र हैं। हम लोगों को दाता की करुणा पर एकांत रूप से निर्भर रहना पड़ता है। यह बात सत्य होते हुए भी राजनीति की कर्तव्य-बुद्धि को उद्बोधित करने के लिए पुनः-पुनः चीत्कार के अलावा हमारे पास दूसरे उपाय कहां है।"[10] कांग्रेस की नीति की आलोचना के साथ ही स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान 'स्वराज्य' शब्द का प्रथम प्रयोग भी देउस्कर ने ही किया था। "श्री अरविंद ने लिखा है कि स्वराज्य शब्द का पहला प्रयोग 'देशेर कथा' के लेखक सखाराम गणेश देउस्कर ने किया"।[11] इस पुस्तक की लोकप्रियता से डरकर ब्रिटिश अधिकारियों ने 28 सितंबर, 1910 को इस पुस्तक को जब्त कर लिया था। माधव प्रसाद मिश्र ने बांग्ला पुस्तक को प्रकाशित करने में भी देउस्कर जी की मदद की थी और बांग्ला के पहले संस्करण के प्रकाशित होने के साथ ही इसकी महत्ता को देखते हुए मिश्र जी ने इसके हिन्दी अनुवाद पर काम शुरू कर दिया था। अनुवाद के आरंभिक अंश कोलकाता की *वैश्योपकार* पत्रिका में प्रकाशित हुए थे, परंतु किसी कारणवश वे यह अनुवाद पूरा नहीं कर पाए। इस अनुवाद को पूरा करने का कार्य अमृत लाल चक्रवर्ती ने किया। जब इस पुस्तक के बांग्ला संस्करण पर प्रतिबंध लगाया गया तब तक इसका हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो चुका था।

---

[10] वही, पृ. 8

[11] वही, पृ. 10

"हिन्दी क्षेत्र में कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक सत्य भक्त जी ने अपने एक साक्षात्कार में कहा है कि 'देश की बात' परम देशभक्त सखाराम गणेश देउस्कर लिखित बंगाली भाषा की देशेर कथा का अनुवाद था। इस पुस्तक ने हमको आरंभ में देशभक्ति की पर्याप्त प्रेरणा दी, इसमें संदेह नहीं।"[12] हिन्दी में *देश की बात* की लोकप्रियता इस तथ्य से भी ज्ञात होती है कि माधव प्रसाद मिश्र के भाई और कवि राधा कृष्ण मिश्र ने *देश की बात* पुस्तक के ऊपर एक कविता लिखी थी। माधव प्रसाद मिश्र ने *देश की बात* के मुखबंध के आरंभ में इस कविता का कुछ अंश उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है :

पाठकगण! निज हृदय खोलकर पढ़ो देश अपने की बात,
निर्दयता से हुआ किस तरह पुण्यभूमि भारत का घात।
शोक सिंधु में डूब न रहना, रखना मन में भारी धीर,
वही वीर जननी का जाया, हरै सदा जो उसकी पीर।

देशेर कथा का दूसरा हिन्दी अनुवाद प्रसिद्ध पत्रकार बाबूराव विष्णु पराड़कर ने किया। यह सन् 1910 में कोलकाता से प्रकाशित हुआ था। पराड़कर जी ने अपने अनुवाद में कई नई बातें भी जोड़ दी हैं, इसलिए उनका अनुवाद देउस्कर के मूल बांग्ला से भी बड़ा हो गया है। देउस्कर की *देशेर कथा* का हिन्दी क्षेत्र के रचनाकारों पर गहरा प्रभाव पड़ा और हिन्दी में भी इसी प्रकार की पुस्तकों का लेखन आरंभ हुआ। सन् 1923 में देवनारायण द्विवेदी ने भी *देश की बात* नाम से एक किताब लिखी।

देश की बात की भूमिका में इसके महत्त्व पर लिखते हुए मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, "यह पुस्तक केवल इतिहास और राजनीति में दिलचस्पी देखनेवालों के लिए ही नहीं, साहित्य के सुधी पाठकों के लिए भी उपयोगी है। यह स्वाधीनता आन्दोलन के काल के साहित्य की आधारभूमि को सामने लाने वाली पुस्तक है। देश की बात को पढ़ने के बाद 'भारत दुर्दशा' और 'अंधेर नगरी' जैसे नाटकों तथा 'प्रेमाश्रम' 'रंगभूमि' और 'गोदान' जैसे उपन्यासों को बेहतर ढंग से समझना संभव होगा।"[13]

---

[12] वही, पृ. 13

[13] वही, पृ. 31-32

माधवराव सप्रे के अनुवादों का महत्त्व

माधवराव सप्रे भारतेंदु युग के लेखकों की तरह साहित्यकार एवं पत्रकार दोनों थे। इनका लेखन काल सन् 1900 से सन् 1920 तक का है, जो स्वाधीनता आन्दोलन के उठान का दौर था। माधवराव सप्रे मूलतः मराठी थे पर वे हिन्दी भाषा और क्षेत्र के जागरण के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। सप्रे जी के लेख और निबंध राष्ट्र और समाज की ज्वलंत समस्याओं पर आधारित होते थे। माधवराव सप्रे बाल गंगाधर तिलक और विष्णु शास्त्री चिपलूणकर से अत्यंत प्रभावित थे। हिन्दी क्षेत्र में तिलक के राष्ट्रवादी और उपनिवेशवाद विरोधी विचारों का प्रसार करने के लिए सप्रे जी ने *हिन्दी केसरी* नामक साप्ताहिक निकालने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए महाराष्ट्र में *मराठी केसरी* का प्रकाशन शुरू किया गया था, उन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर सप्रे जी ने *हिन्दी केसरी* निकालना शुरू किया था।

हिन्दी *केसरी* का घोषित उद्देश्य था, "राजनीतिक दासत्व से मुक्त होकर स्वराज्य प्राप्त करना। हिन्दी क्षेत्र में 1907 तक स्वाधीनता आन्दोलन के लक्ष्य के रूप में स्वराज्य प्राप्ति की खुलेआम घोषणा करने वाले लोग बहुत कम थे। ऐसे दुर्लभ लोगों में से एक थे माधवराव सप्रे।"[14] स्पष्ट है सप्रे जी की पत्रकारिता एवं वैचारिक दृष्टिकोण पर बाल गंगाधर तिलक के विचारों का अत्यंत गहरा प्रभाव था। हिन्दी *केसरी* के राष्ट्रवादी विचारों की लोकप्रियता इतनी बढ़ गई थी कि ब्रिटिश सरकार ने इसके लिए सप्रे जी को गिरफ्तार करके उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया था। हिन्दी *केसरी* के महत्त्व को बताते हुए मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, "हिन्दी केसरी में स्वदेशी के प्रचार, विदेशी के बहिष्कार, स्वराज्य की जरूरत पर जोर और आत्मगौरव के बोध से संबंधित समाचार और विचार छपने लगे। उसमें निर्भीकता से विभिन्न आंदोलनों, आन्दोलनकारियों और क्रांतिकारियों का समर्थन होता था। इस पत्रिका में मौलिक लेखों के साथ-साथ मराठी केसरी में छपे लेखों के अनुवाद भी प्रकाशित होते थे। हिन्दी केसरी की लोकप्रियता जैसे जैसे बढ़ रही थी वैसे वैसे सरकार का रोष भी बढ़ रहा था। आखिरकार 22 अगस्त 1908 को देशसेवक प्रेस और 'हिन्दी केसरी' के संपादकों के घरों

---

[14] पाण्डेय, मैनेजर, *माधवराव सप्रे का महत्त्व,* महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिन्दी विश्वविद्यालय, वर्धा के अभिक्रम *हिन्दी समय* से दिनांक 22 सितंबर, 2021 को उद्धृत

की तलाशी ली गई और पत्रिका के दोनों संपादक कोल्हटकर और सप्रे गिरफ्तार कर लिए गए। हिन्दी पत्रकारिता के इतिहास में राजद्रोह का यह पहला मुकदमा था"।[15]

गिरफ्तारी के बाद जेल से बाहर आकर माधवराव सप्रे ने एक वर्ष तक अज्ञातवास में जीवन बिताया और फिर उन्होंने समर्थ रामदास की प्रसिद्ध मराठी पुस्तक *दासबोध* का हिन्दी अनुवाद किया। मराठी *दासबोध* एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक मानी जाती है। इसका हिन्दी अनुवाद सन् 1912 में प्रकाशित हुआ। सप्रे जी के अनुवाद पर श्री विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े द्वारा रामदास पर लिखे गए निबंध का गहरा असर है। यह अनुवाद भारतीय नवजागरण के दृष्टिकोण से अत्यंत महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इसमें ज्ञान की पुरानी परंपरा की नई व्याख्या दिखाई देती है।

सन् 1915 में माधवराव सप्रे ने बाल गंगाधर तिलक की प्रसिद्ध कृति *गीता रहस्य* का हिन्दी अनुवाद किया। यह अनुवाद सन् 1916 में प्रकाशित हुआ। तिलक की *गीता रहस्य* का भारत की सभी प्रमुख भाषाओं में अनुवाद किया गया है। पर इसका अनुवाद सबसे पहले हिन्दी में किया गया। हिन्दी जाति की ज्ञान परंपरा के विस्तार पर इस पुस्तक का व्यापक असर पड़ा है। अकारण नहीं है कि महात्मा गांधी तिलक के *गीता रहस्य* से बेहद प्रभावित थे। तिलक ने इस पुस्तक के माध्यम से *गीता* के कर्मयोग की वृहद् व्याख्या की थी। उन्होंने इस पुस्तक के माध्यम से मोक्ष की जगह कर्म को केंद्र में लाने का काम किया। पराधीनता के दौर में तिलक इस पुस्तक के माध्यम से लोगों को जागृत करना चाहते थे कि जब देश गुलाम हो तो मोक्ष की बात नहीं करनी चाहिए। कर्म करना चाहिए। तिलक लोगों को देश की दुर्दशा से अवगत कराना चाह रहे थे। माधवराव सप्रे द्वारा हिन्दी में अनूदित *गीता रहस्य* के अब तक पच्चीस से अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। स्पष्टतः इस पुस्तक ने लोगों में एक नए उत्साह का संचार किया था और उन्हें सांसारिक मुक्ति एवं मोक्ष के लिए प्रयासरत होने की जगह राष्ट्रीय मुक्ति के कर्म में प्रवृत्त किया था।

हिन्दी नवजागरण और *विश्व प्रपंच*

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हैकेल के *रिड्ल ऑफ दि यूनिवर्स* का अनुवाद *विश्व प्रपंच* नाम से सन् 1920 में किया। आचार्य शुक्ल ने इस अनुवाद के माध्यम से स्वाधीनता आन्दोलन के दौर में पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान के समक्ष अपनी संस्कृति को हीन समझने वाले लोगों में स्वत्व के प्रति प्रेम जगाने का कार्य किया और अनुवाद के माध्यम से पूरब और पश्चिम की ज्ञान परंपरा के बीच एक सांस्कृतिक सेतु निर्मित करने का प्रयास किया। बाल गंगाधर तिलक के *गीता*

---

[15] वही

रहस्य में *रिड्ल ऑफ दि यूनिवर्स* का भारतीय दर्शन और ज्ञान-विज्ञान से कई जगह तुलनात्मक अध्ययन देखने को मिलता है। हैकेल ने अपनी पुस्तक में दुनिया भर के प्रायः सभी धार्मिक मत-मतांतरों की आलोचना की है और वैज्ञानिक चिंतन को श्रेष्ठ माना है। तिलक ने भी अपने *गीता रहस्य* में सांसारिक कर्म को प्रमुखता दी है और संसार से परे मुक्ति की किसी भी अवधारणा का खंडन किया है।

कई विद्वानों ने शुक्ल जी द्वारा विश्व प्रपंच अनुवाद के पीछे तिलक के *गीता रहस्य* की प्रेरणा मानी है। समीक्षा ठाकुर इनमें से एक हैं। उन्होंने लिखा है, "गीता रहस्य में हर्बर्ट स्पेंसर के दर्शन की भी मीमांसा है, जिसके मनोवैज्ञानिक विचारों से शुक्ल जी किशोरावस्था से ही परिचित थे। उस विकासवादी विज्ञान का काफी विवेचन है, जिसमें विश्व की उत्पत्ति संबंधी धार्मिक अंधविश्वासों का खंडन किया गया है। अनुमानतः हैकेल के *रिड्ल ऑफ दि यूनिवर्स* का हिन्दी में *विश्व प्रपंच* नाम से अनुवाद करने की प्रेरणा आचार्य शुक्ल को गीता रहस्य से ही प्राप्त हुई हो"।[16] युगीन आवश्यकताओं ने ही आचार्य शुक्ल को *विश्व प्रपंच* के अनुवाद के लिए प्रेरित किया। उन्होंने हिन्दी समाज को विश्व स्तर के ज्ञान-विज्ञान, उसमें हो रहे शोध एवं आविष्कार से परिचित कराने के लिए ही *रिड्ल ऑफ दि यूनिवर्स* का अनुवाद किया था ताकि जनमानस के मस्तिष्क पर कब्जा जमाए धर्मांधता, अज्ञानता और अंधविश्वास को हटाया जा सके और उन्हें सार्थक ज्ञान-विज्ञान से जोड़कर राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना का प्रचार-प्रसार किया जा सके। *विश्व प्रपंच* की रचना प्रक्रिया के प्रमुख कारणों में राष्ट्रीय अस्मिता भी थी। उपनिवेशवादी मानसिकता से ग्रस्त एक बड़े वर्ग की मान्यता थी कि भारत के पास ज्ञान-विज्ञान की कोई पृष्ठभूमि नहीं है। एक वर्ग ऐसा भी था जो यह मानता था कि ईश्वर और धर्म ही मानव जाति के नियामक हैं। धर्म-गुरुओं के उपदेश से ही उनका कल्याण हो सकता है। उस समय समाज में धार्मिक मान्यताओं का बहुत अधिक वर्चस्व था। लोग समझते थे कि मनुष्य ईश्वर के आगे विवश है। अधिकांश धार्मिक मतों में संसार को सिर्फ लीला कहा जाता था। समाज में भौतिक चिंतन को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता था। जीवन में जो कुछ घटित होता था लोग उसे दैवी विधान मानकर स्वीकार कर लेते थे। इन्हीं विचारों के प्रभाव में लोग पराधीनता को भी ईश्वर की देन मान बैठे थे और अंग्रेजों की गुलामी को अपनी नियति समझने लगे थे।

विश्व प्रपंच की रचना के पीछे शुक्ल जी का उद्देश्य रूढ़िवाद की तर्कसम्मत आलोचना के साथ अवैज्ञानिक मान्यताओं और अंधविश्वास विरोधी हैकेल की विचारधारा से हिन्दी

---

[16] ठाकुर, समीक्षा, *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त और गीता रहस्य,* पृ. 37

समाज को परिचित कराना था। इस संबंध में मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, "मानव समाज लंबे समय तक ईश्वर की तानाशाही और धर्म के आतंक की छाया में जीता-मरता रहा है और उससे मुक्त होने के लिए छटपटाता भी रहा है। आधुनिक चेतना के विकास के साथ ईश्वर की तानाशाही और धर्म के आतंक की जो आलोचना आरंभ हुई थी, वह 19वीं सदी में निर्णायक स्थिति में पहुंची। ऐसी स्थिति में रामचन्द्र शुक्ल ने जर्मन वैज्ञानिक और दार्शनिक अर्नस्ट हैकल की अत्यंत लोकप्रिय पुस्तक *रिड्ल ऑफ द यूनिवर्स* का *विश्व प्रपंच* नाम से जो अनुवाद किया था। उसे याद करना और पढ़ना विशेष रूप से आवश्यक लगता है, क्योंकि हैकेल ने डार्विन के विकासवाद की मदद से धार्मिक पाखंड और रूढ़िवाद का जोरदार खंडन किया।" शुक्ल जी ने *विश्व प्रपंच* अनुवाद के माध्यम से नवजागरण कालीन ज्ञान-विज्ञान पर आधारित चिंतन को बढ़ावा दिया। इस अनुवाद की भूमिका में शुक्ल जी ने बाल गंगाधर तिलक के *गीता रहस्य* का भी व्यापक संदर्भ दिया है। हैकेल की पुस्तक पारलौकिकता की जगह इहलौकिकता के महत्त्व को स्थापित करती थी, जिसके अनुवाद द्वारा शुक्ल जी ने हिन्दी जाति में वैज्ञानिक दृष्टि के निर्माण का प्रयास किया। स्पष्टतः द्विवेदी युग में हुए अनुवादों ने हिन्दी नवजागरण के वैचारिक आधार को सुदृढ़ करने और लोगों को स्वराज प्राप्ति के लिए आंदोलित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस तरह के अनुवादों के प्रभाव से हिन्दी साहित्य में आगे चलकर राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों से प्रेरित यथार्थवादी लेखन एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में स्थापित हुआ।

भारतीय भाषाओं से हिन्दी में होने वाले अनुवादों का परिचय

द्विवेदी युग में हिन्दी विभिन्न भारतीय भाषाओं से अधिकतम अनुवादों की लक्ष्य भाषा बन गई थी। इस दौर तक आते-आते खड़ी बोली का साहित्यिक स्वरूप स्थिर हो गया था और काव्यभाषा के रूप में भी खड़ी बोली ने ब्रजभाषा को अपदस्थ कर दिया था। डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं, "हिन्दी नवजागरण का तीसरा चरण महावीरप्रसाद द्विवेदी और उनके सहयोगियों का कार्यकाल है।"[17] हिन्दी नवजागरण के तीसरे चरण अर्थात द्विवेदी युग में भारतीय नवजागरण की चेतना से युक्त भारतीय भाषाओं के साहित्य का व्यापक स्तर पर अनुवाद देखने को मिलता है। इसके साथ ही द्विवेदी जी ने "भारत में अंग्रेजों की स्थिति, भारतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने की समस्या, भारतीय भाषाओं के बीच संपर्क-भाषा की समस्या, हिन्दी-उर्दू की समानता और आपसी भेद, हिन्दी और जनपदीय

---

[17] शर्मा, रामविलास, *महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण*, पृ. 15

उप-भाषाओं के संबंध आदि पर बहुत गहराई से विचार किया।"[18] इस कार्य में द्विवेदी जी ने स्वयं तो अनुवाद किया ही, अपने सहयोगियों को भी विपुल मात्रा में अनुवाद करने के काम में लगाया। द्विवेदी जी ने "सरस्वती के माध्यम से लेखकों का ऐसा दल तैयार किया जो इस नवीन चेतना के प्रसार के कार्य में उनकी सहायता करे।"[19]

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी नवजागरण के अग्रदूत भारतेन्दु हरिश्चंद्र जहां बांग्ला नवजागरण से प्रभावित दिखाई देते हैं, वहीं बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी नवजागरण के अगले निर्माता महावीरप्रसाद द्विवेदी का संबंध मराठी नवजागरण से है। द्विवेदी जी ने मराठी नवजागरण से जुड़े कई महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की जीवनी भी लिखी है। बांग्ला और मराठी नवजागरण का यह प्रभाव बहुत आगे तक छायावादी रचनाकारों पर भी देखा जा सकता है। डॉ. रामविलास शर्मा ने निराला के साहित्य पर बांग्ला नवजागरण एवं साहित्य के प्रभाव का व्यापक विश्लेषण किया है। अंग्रेजों के संपर्क में आने के बाद पश्चिमी शिक्षा और दुनिया भर के ज्ञान-विज्ञान के प्रभाव से बंगाल और महाराष्ट्र में सबसे पहले भारतीय नवजागरण का सूत्रपात हुआ था और दोनों भाषाओं के साहित्य में प्रगतिशील लेखन और चिंतन की शुरुआत हुई थी। इसी प्रभाव को ग्रहण करने के बाद बांग्ला और मराठी साहित्य ने भारत की अन्य देशी भाषाओं के साहित्य को भी एक नई राह दिखाने का काम किया। हिन्दी पर यह प्रभाव मौलिक लेखन और अनुवाद दोनों रूप में पड़ा।

साहित्यिक खड़ी बोली का विकास और अनुवाद

भारत में जब ईसाई मिशनरियों का आगमन हुआ तब उन्होंने खड़ी बोली को अपने धार्मिक मत के प्रचार के लिए सर्वाधिक अनुकूल पाया था। ईसाई मिशनरियों द्वारा *बाइबिल* के कई अंशों का बोलचाल की सरल हिन्दी में अनुवाद कर उसका नि:शुल्क वितरण कराया गया। इस धार्मिक प्रचार-कार्य से खड़ी बोली एवं देवनागरी लिपि का आरंभिक प्रचार-प्रसार हुआ। बाइबिल का पहला अनुवाद हेनरी थॉमस कोलब्रुक द्वारा किया गया था। आगे चलकर विलियम कैरे ने *बाइबिल* का पांच खंडों में अनुवाद किया और सन् 1817 में हेनरी मार्टिन ने *न्यू टेस्टामेंट* को देवनागरी लिपि में प्रकाशित किया। आगे चलकर फोर्ट विलियम कॉलेज के प्रिंसिपल जॉन गिलक्राइस्ट ने खड़ी बोली गद्य की कई शैलियों का विकास किया। इस कार्य में उन्हें लल्लू जी लाल, सदल मिश्र, सदासुखलाल तथा इंशाअल्ला खाँ का सहयोग मिला था।

---

[18] वही, पृ. 17

[19] वही, पृ. 17

सामाजिक सुधार आन्दोलन के नेताओं महर्षि दयानंद सरस्वती, राजा राममोहन राय तथा श्रद्धा राम फिल्लौरी ने भी अपनी-अपनी संस्थाओं की प्रचार सामग्री को सरल और सुबोध खड़ी बोली में प्रस्तुत करने का काम किया, जिससे खड़ी बोली का तीव्र विकास हुआ। स्वामी दयानंद सरस्वती ने *सत्यार्थ प्रकाश* की रचना खड़ी बोली में की और आर्य समाज के मूल सिद्धांतों में हिन्दी की प्रतिष्ठा पर बल दिया। राजा राममोहन राय ने सन् 1815 में *वेदांत सूत्र* का हिन्दी अनुवाद किया और सन् 1829 में *बंगदूत* अखबार के माध्यम से उन्होंने हिन्दी और देवनागरी के लिए आन्दोलन चलाया। श्रद्धा राम फिल्लौरी ने विश्व प्रसिद्ध आरती 'ओम जय जगदीश हरे' की रचना की और बहुत साफ-सुथरी भाषा में *सत्यामृत प्रवाह* लिखा। एनी बेसेंट ने अपनी संस्था थियोसॉफिकल सोसायटी में भी संपर्क भाषा के रूप में हिन्दी का बढ़ावा दिया। प्रेस की स्थापना और इन प्रयासों से खड़ी बोली के विकास को बड़ा बल मिला। सन् 1826 में कलकत्ता से हिन्दी का पहला साप्ताहिक पत्र *उदंत मार्तंड* निकलना शुरू हुआ। सन् 1854 में हिन्दी के पहले दैनिक पत्र *समाचार सुधा दर्पण* की शुरुआत हुई। आगे चलकर *कवि वचन सुधा, हरिश्चंद्र चंद्रिका, बालाबोधिनी पत्रिका, हिन्दी प्रदीप, ब्राह्मण तथा आनंद कादंबिनी* आदि पत्रिकाओं ने खड़ी बोली के स्वरूप को विकसित करने का प्रयास किया। द्विवेदी युग तक आते-आते खड़ी बोली का पर्याप्त विकास हो गया था। खड़ी बोली के विकास में बांग्ला साहित्य से होने वाले अनुवादों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। बांग्ला भाषा से होने वाले अनुवादों ने आधुनिक हिन्दी भाषा के मानक स्वरुप के निर्माण में निर्णायक भूमिका निभाई। इस संदर्भ में डॉ सुनीति कुमार चाटुर्ज्या की स्थापना है, "सभी आधुनिक भाषाओं पर अंग्रेजी के बाद आधुनिक बांग्ला साहित्य का सर्वाधिक प्रेरक प्रभाव रहा है।"[20] बांग्ला का यह प्रभाव छायावाद तक निराला की राम की शक्ति-पूजा (सन् 1935) पर भी पड़ा। उल्लेखनीय है *राम की शक्ति-पूजा* का प्रेरणा-स्रोत बांग्ला *कृत्तिवासी रामायण* ही है।

द्विवेदी जी को विरासत में खड़ी बोली का जो रूप मिला था उसमें इसकी दो शैलियाँ प्रचलित थीं। एक शैली में संस्कृत शब्दों का अतिशय आग्रह था तो दूसरी शैली नागरी लिपि में लगभग उर्दू भाषा थी। भाषा के ये दोनों ही रूप आम जनमानस की बोल-चाल वाली भाषा से अलग थे। साहित्यिक लेखन में कुछ लोगों द्वारा इसी तरह की कृत्रिम भाषा का आरोपण करने का प्रयास किया जा रहा था। द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को इस आरोपण से मुक्त करने का प्रयास किया और अनुवादों एवं मौलिक लेखन के माध्यम से भाषा के स्वरूप को स्थिर करने का ऐतिहासिक दायित्व निभाया। इस दिशा में उन्होंने देश की समृद्ध

---

[20] सिन्हा, रमण, *अनुवाद और रचना का उत्तर जीवन*, पृ. 44

भाषाओं तथा अंग्रेजी से अनुवाद पर बल दिया, क्योंकि उस समय खड़ी बोली में मौलिक साहित्य सृजन की प्रक्रिया का अभी सम्पूर्ण विकास नहीं हो पाया था।

रामविलास शर्मा ने *महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण* की भूमिका में लिखा है, "साहित्य के क्षेत्र में उन्होंने तय कर लिया था कि हिन्दी गद्य का विकास करना है, आधुनिक हिन्दी को विविध विषयों के विवेचन का माध्यम बनाना है, कविता में ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करना है और साहित्य से रीतिवाद को निकाल बाहर करना है। लगभग २० वर्ष तक एकाग्र मन से इस निश्चित उद्देश्य की सिद्धि में वे लगे रहे और उन्हें सफलता प्राप्त हुई। उनके इस प्रयत्न के बिना सन् 20 के बाद का साहित्यिक विकास असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता।"[21] द्विवेदी ने अपने इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भारतीय भाषाओं के हिन्दी अनुवाद का वृहद अभियान चलाया। अधिकांशतः उन्हीं के प्रयासों से खड़ी बोली में आधुनिक भाव बोध की प्रतिष्ठा हुई और यह रीतिवादी परिपाटी त्यागकर अपने समय और समाज की चेतना को अभिव्यक्त करने में सक्षम हुई। द्विवेदी युग से पहले भारतेन्दु युग में बांग्ला साहित्य का वृहद स्तर पर हिन्दी अनुवाद किया गया था। भारतेन्दु बंगाल के साहित्यिक लेखन से गहरे स्तर पर प्रभावित थे। उन्होंने अपने युग के साहित्यकारों और अनुवादकों को भी बांग्ला साहित्य का अनुवाद करने के लिए प्रेरित करते हुए लिखा था-

"पै सब विद्या की कहूं होय जु पै अनुवाद।
निज भाषा में तॉ सबै कॉलैहें स्वाद।।
जानि सकें सब कुछ सबहि विविध कलाके भेद।।
बनै वस्तु, कल की इतै मिटै दीनता खेद।"[22]

बांग्ला साहित्य के अनुवादों की जो परम्परा उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में शुरू हुई, वह बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भी बनी रही। महावीर प्रसाद द्विवेदी यद्यपि मराठी नवजागरण से अधिक प्रभावित थे पर उन्होंने मैथिली शरण गुप्त और *सरस्वती* पत्रिका से जुड़े अनेक साहित्यकारों को बांग्ला साहित्य के अनुवाद के लिए प्रेरित किया। "बंगला से बंकिम, शरद, माइकेल मधुसूदन दत्त, रवीन्द्रनाथ, मराठी से हरिनारायण आप्टे, खाण्डेकर आदि के जो अनुवाद हिन्दी में हुए उन्होंने हिन्दी-भाषी प्रदेशों में एक नया विचार-मंथन उत्पन्न किया और जनमानस साम्प्रदायिकता और प्रांतीयता से ऊपर उठकर वंदेमातरम की अखण्ड चेतना

---

[21] वही, पृ. 17

[22] डॉ. नगेन्द्र, (सम्पा.), *अनुवाद विज्ञान सिद्धांत और अनुप्रयोग,* पृ. 402

में चल पड़ा।"[23] बंगाल में सन् 1905 के स्वदेशी आन्दोलन ने भारतीय भाषाओं के साहित्य को गहरे अर्थों में प्रभावित करने का ऐतिहासिक कार्य किया। इस चेतना ने लोगों को निज भाषा के प्रति आग्रही बनाया। इस दौर में अनुवाद ही भारतीय भाषाओं के आपसी संवाद की सरणि बना। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने समकालीन रचनाकारों को बांग्ला साहित्य को हिन्दी में अनूदित करने की प्रेरणा दी। महावीर प्रसाद द्विवेदी का कहना था "एक अच्छी पुस्तक का अनुवाद पचास नयी पर निःसार पुस्तकों की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखता है।"[24]

पुरातत्त्वविद श्री राखाल दास वंद्योपाध्याय ने बांग्ला में *करुणा, शशांक* और पाल वंश के राजा धर्मपाल को आधार बनाकर *धर्मपाल* नाम से ऐतिहासिक उपन्यास लिखा था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनके उपन्यास *शशांक* का हिन्दी अनुवाद किया। *शशांक* बांग्ला से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा किया गया इकलौता अनुवाद माना जाता है। इस अनुवाद की भूमिका में आचार्य शुक्ल ने राखाल दास वंद्योपाध्याय के बारे में लिखा है, "अपना स्वरुप भूले हुए हमें बहुत दिन हो गए। अपनी प्रतिभा द्वारा हमारे सामने हिन्दुओं के पूर्व जीवन के माधुर्य का चित्र रखकर आपने बड़ा भारी काम किया।"[25] शुक्ल जी का यह कथन उपन्यासकार के प्रति उनके प्रशंसा के भाव के साथ ही उनकी अनुवाद दृष्टि को भी दर्शाता है। इससे पता चलता है कि उन्होंने यह अनुवाद विशेष उद्देश्य से किया था। इस अनुवाद के माध्यम से शुक्ल जी हिन्दी भाषी जनता को उसके स्वर्णिम अतीत का बोध कराना चाह रहे थे।

शुक्ल जी ने इस उपन्यास का अनुवाद करते समय इसके उत्तरार्द्ध को ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर परिवर्तित भी किया है। शुक्ल जी का मानना था कि मूल रचनाकार की ऐतिहासिक एवं तथ्यात्मक त्रुटियों को अनुवाद में दुहराना असंगत है। अनुवादक को अनुवाद करते समय इसे ठीक कर देना चाहिए। *शशांक* उपन्यास में राखाल दास वंद्योपाध्याय ने अंत में शशांक को मृत दिखाया है। शुक्ल जी ने इस बारे में लिखा है कि, "जैसा कि सैन्यभीति के शिलालेख से स्पष्ट है शशांक मारे नहीं गए, वे हर्ष की चढ़ाई के बहुत दिनों पीछे तक राज्य करते रहे।"[26] शुक्ल जी ने ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर इस रचना के अनुवाद में परिवर्तन कर दिया और राजा शशांक को मृत नहीं दिखाया जबकि मूल उपन्यास में राखाल दास वंद्योपाध्याय ने शशांक को मृत दिखाया है।

---

[23] पालीवाल, रीतारानी, *अनुवाद की सामाजिक भूमिका,* पृ. 87

[24] सहगल, नवीन चन्द्र, *काव्यानुवाद: सिद्धान्त और समस्याएँ,* पृ. 9

[25] शुक्ल, रामचन्द्र (अनु.), *शशांक,* पृ. 01

[26] वही, पृ. 10

द्विवेदी युग में बांग्ला उपन्यासों के अनुवादों ने हिन्दी उपन्यासों के विकास को एक नई दिशा दी। इस विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उल्लेख किया है, "इस उत्थान के भीतर बंकिमचन्द्र, रमेशचंद्र दत्त, हाराणचंद्र, रक्षित, चंडीचरण सेन, शरत बाबू, चारुचंद इत्यादि बंगभाषा के प्रायः सब प्रसिद्ध उपन्यासकारों की बहुत-सी पुस्तकों के अनुवाद तो हो गए, रवींद्र बाबू के भी आँख की किरकिरी आदि कई उपन्यास हिन्दी रूप में दिखाई पड़े, जिनके प्रभाव से इस उत्थान के अंत में आविर्भूत होने वाले हिन्दी के मौलिक उपन्यासकारों का आदर्श बहुत कुछ ऊंचा हुआ।"[27]

इस युग में बांग्ला साहित्य के प्रमुख अनुवादक के रूप में मैथिली शरण गुप्त का नाम भी सामने आता है। *भारत-भारती* गुप्त जी के साहित्यिक जीवन की आरंभिक कृति है। इसे एक मौलिक कृति माना जाता है। पर इस कृति पर उर्दू में रचित हाली की *मुसद्दस* का प्रभाव माना जाता है। गुप्त जी ने इस रचना का उद्देश्य हिन्दू समाज के उद्बोधन से जोड़ा है। *भारत-भारती* की भूमिका में गुप्त जी ने लिखा है कि श्रीमान राजा रामपाल सिंह जी ने उनसे अनुरोध किया था कि जिस प्रकार उर्दू में हाली की रचना *मुसद्दस* है, वैसी उद्बोधनपरक रचना हिन्दुओं के लिए भी की जानी चाहिए। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी सन् 1907 में *सरस्वती* पत्रिका में छपे अपने लेख *कवि और कविता* में इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया था। उन्होंने लिखा था कि उर्दू के हाली, नजीर और आजाद जैसा कोई कवि हिन्दी में भी होना चाहिए जो भारतीय समाज को उद्बुद्ध कर सके। स्पष्टतः *भारत-भारती* से उर्दू की रचना *मुसद्दस* जैसी होने की अपेक्षा थी। यह प्रभाव अनुवाद के माध्यम से ही संचरित हुआ होगा।

मैथिली शरण गुप्त ने बांग्ला के प्रमुख साहित्यकार माइकल मधुसूदन दत्त के *मेघनाद वध, विहरिणी वज्रांगना* और नवीन चन्द्र सेन के *पलासी का युद्ध* कृतियों का भी हिन्दी अनुवाद किया था। इन अनुवादों का ऐतिहासिक महत्त्व तो है ही, इनके माध्यम से गुप्त जी ने काव्य भाषा के रूप में हिन्दी खड़ी बोली के विकास में बड़ी भूमिका निभाई और खड़ी बोली के साहित्यिक प्रयोग का मार्ग प्रशस्त किया। इससे खड़ी बोली का स्वरुप स्थिर हुआ। यह आधुनिक भावबोध की सशक्त अभिव्यक्ति का माध्यम बन सकी तथा खड़ी बोली में राष्ट्रीयता और देश-प्रेम जैसे आधुनिक विषयों पर जन-सामान्य के भावों को अभिव्यक्त करना अपेक्षाकृत सहज हो गया। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने तुकान्त-अतुकान्त छन्द विधान को लेकर सरस्वती पत्रिका में कई लेख लिखे थे। द्विवेदी जी का मानना था कि "छंद रचना

---

[27] शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास*, पृ. 342

मुख्य नहीं है मुख्य है कविता।"[28] द्विवेदी जी ने अतुकान्त कविता के लिए लगातार आन्दोलन किया। बांग्ला कवि माइकल मधुसूदन दत्त द्विवेदी जी के प्रिय कवि थे। जुलाई 1903 में द्विवेदी जी ने *सरस्वती* में लेख लिखकर अतुकांत छंद रचना पर जोर दिया। द्विवेदी जी की प्रेरणा से ही गुप्त जी ने *मेघनाद वध* की अपनी भूमिका में तुकान्त छंदों का घोर विरोध किया।

डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है "मेघनाद वध के अनुवाद की भूमिका पढ़ते समय पग-पग पर लगता है कि हम निराला के विरोध की कहानी पढ़ रहे हैं। इससे दो परिणाम निकलते हैं। पहला यह कि रूढ़ियों के विरुद्ध संघर्ष अखिल भारतीय स्तर पर हो रहा था और यहाँ बंगला साहित्य इस संघर्ष में अन्य भाषाओं के साहित्य से आगे था। दूसरा परिणाम यह है कि द्विवेदी युग में रूढ़िवाद से जो संघर्ष हुआ था, उसकी परिणति निराला के संघर्ष में होती है, वह संघर्ष निराला से शुरू नहीं होता। पुनः छायावादी साहित्य उस विकास की अगली कड़ी है जो द्विवेदी युग में शुरू होता है।"[29] डॉ. रामविलास शर्मा हिन्दी साहित्य में अतुकान्त छंद का आगमन बांग्ला साहित्य से जोड़ते हैं, जिसका आयात हिन्दी में अनुवाद के माध्यम से ही संभव हुआ था। हिन्दी खड़ी बोली कविता में इस परंपरा को शुरू करने का श्रेय आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से मैथिली शरण गुप्त को जाता है। द्विवेदी युग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अनूदित कृति *देश की बात* है। देश की बात बांग्ला *देशेर कथा* का अनुवाद है जो सन् 1908 में मुंबई से प्रकाशित हुआ था। यह अनुवाद बाबूराव विष्णु पराड़कर ने किया था। *देशेर कथा* के लेखक सखाराम गणेश देउस्कर हैं। यह कृति पहली बार सन् 1904 में कलकत्ता से प्रकाशित हुई थी। *देशेर कथा* को बंग-भंग के विरुद्ध शुरू हुए स्वदेशी आन्दोलन के समय अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। इस पुस्तक के प्रकाशन में हिन्दी के प्रसिद्ध पत्रकार एवं लेखक माधव प्रसाद मिश्र का भी महत्त्वपूर्ण योगदान था। शुक्ल जी हिन्दी के मौलिक उपन्यासों की विषय-वस्तु में होने वाले परिवर्तन को बांग्ला उपन्यासों का प्रभाव मानते हैं। इस प्रभाव का ही परिणाम था कि बीसवीं सदी के आरम्भ में हिन्दी उपन्यास यथार्थवादी भाव-भूमि से जुड़ सका और इसने हिन्दी नवजागरण की मूल भावना को और अधिक धारदार बनाने में अपनी भूमिका का सफलतापूर्वक निर्वाह किया।

मराठी से अनुवाद

द्विवेदी युग में बांग्ला के साथ ही मराठी से भी महत्त्वपूर्ण अनुवाद हुए। मराठी से हिन्दी में अनुवाद करने वालों में माधवराव सप्रे प्रमुख हैं। माधवराव सप्रे द्वारा सन् 1910 समर्थ

---

[28] शर्मा, रामविलास, *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण*, पृ. 311

[29] वही, पृ. 314

रामदास की प्रसिद्ध पुस्तक *दासबोध* का हिन्दी अनुवाद किया गया जो सन् 1912 में प्रकाशित हुआ। सन् 1915 में माधवराव सप्रे ने बाल गंगाधर तिलक के *गीता रहस्य* का हिन्दी अनुवाद किया जो सन् 1916 में प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद के कई संस्करण निकले और हिन्दी की ज्ञान परंपरा पर इस अनुवाद का दूरगामी प्रभाव पड़ा। माधवराव सप्रे ने तीसरा महत्त्वपूर्ण अनुवाद चिंतामणी विनायक वैद्य द्वारा लिखित *महाभारत के उपसंहार* का किया। यह अनुवाद *महाभारत मीमांसा* नाम से सन् 1920 में प्रकाशित हुआ। माधवराव सप्रे के अनुवादों ने हिन्दी भाषा एवं साहित्य में मराठी नवजागरण के मूल तत्वों एवं विचारों का प्रसार किया और हिन्दी नवजागरण को भारतीय नवजागरण की मूल चेतना से जोड़ने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई।

सन् 1900 से सन् 1920 के बीच 'हिन्दी जाति के लोकवृत्त' के निर्माण में भारतीय भाषाओं से होने वाले अनुवादों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस दौर में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं में प्रचुर मात्रा में हिन्दी अनुवादों का प्रकाशन हुआ। *सरस्वती, सुदर्शन, समालोचक, अभ्युदय, इन्दु, मर्यादा, प्रताप, चाँद* और *प्रभा* जैसी हिन्दी पत्रिकाओं में धर्म, दर्शन, विज्ञान, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र और राष्ट्रीय आन्दोलन की विषय-वस्तु वाले अनेक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुए।

ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों और साहित्य के अनुवाद भारतीय अतीत के गौरव-गान, सांस्कृतिक पुनरुत्थान, सम-सामयिक राजनीतिक चिंतन और औपनिवेशिक शासन की आलोचना आदि से जुड़े थे। इन अनुवादों ने हिन्दी जाति में नवजागरण की चेतना का प्रसार किया और लोगों को राष्ट्रीय आन्दोलन में सहभागी बनने के लिए प्रेरित किया। द्विवेदी युग में भारतीय भाषाओं विशेष रूप से बांग्ला और मराठी की जिन कृतियों का अनुवाद किया गया वे नवजागरण की चेतना से ही अनुप्राणित थीं। इन अनुवादों ने हिन्दी नवजागरण को एक नई ऊर्जा दी और खड़ी बोली में आधुनिक भाव-बोध की अभिव्यक्त का मार्ग भी प्रशस्त किया।

पाँचवाँ अध्याय

हिन्दी अनुवादों में व्यक्त राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप

- राष्ट्र और राष्ट्रीय चेतना : एक सैद्धांतिक परिचय
- आरंभिक हिन्दी अनुवाद और हिन्दी-उर्दू विवाद
- भारतेन्दु युग के हिन्दी अनुवादों की राष्ट्रीय चेतना
- द्विवेदी युग के हिन्दी अनुवादों की राष्ट्रीय चेतना

पाँचवाँ अध्याय

हिन्दी अनुवादों में व्यक्त राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप

भारतेन्दु एवं द्विवेदी युग में संस्कृत, बांग्ला, अंग्रेजी और मराठी भाषाओं की महत्त्वपूर्ण कृतियों के अनुवाद ने हिन्दी नवजागरण की चिंता-धारा को भारतीय नवजागरण से जोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में विभिन्न भारतीय भाषाओं एवं अंग्रेजी से हुए अनुवादों ने हिन्दी जाति की ज्ञान-परंपरा का विस्तार किया और साहित्य में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति को ठोस वैचारिक आधार प्रदान किया।

इस युग में होने वाले अनुवादों में एक ओर पुनरुत्थानवाद और अतीत का गौरवगान था तो दूसरी ओर पश्चिमी शिक्षा और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के आलोक में उपजा नवीन चिंतन भी था। इन अनुवादों के माध्यम से खड़ी बोली साहित्य में राष्ट्रीयतावादी और सम-सामयिक विचारों का आगमन हुआ, जिसका परिणाम यह हुआ कि इन अनुवादों ने साहित्य की विषय-वस्तु को रीतिवादी परिपाटी से लगभग मुक्त कर दिया। मौलिक रूप में रचे जा रहे खड़ी बोली साहित्य में देश और दुनिया के नए-नए विषयों का प्रवेश हुआ। साहित्य में आधुनिक चिंतन की प्रवृत्ति को प्रमुखता मिली। इन अनुवादों ने परवर्ती साहित्य एवं विमर्श को लोक जागरण एवं जागृति का माध्यम बनने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

राष्ट्र और राष्ट्रीय चेतना : एक सैद्धांतिक परिचय

राष्ट्र लोगों के ऐसे समुदाय को कहते हैं जिनका आपस में जुड़ाव होता है, जो किसी विशिष्ट भौगोलिक क्षेत्र में निवास करते हैं, एक समान रीति-रिवाज और परंपरा से पोषित होते हैं, और एक ही ऐतिहासिक शक्ति की उपज होते हैं। यह राष्ट्र की एक सामान्य परिभाषा है। हालांकि, यह परिभाषा दुनिया के सभी देशों के संदर्भ में समान रूप से लागू नहीं होती है। ओम प्रकाश गाबा लिखते हैं "राष्ट्रवाद एक भावना भी है विचारधारा भी है एक भावना के नाते राष्ट्रवाद अपने राष्ट्र के प्रति लगाव का संकेत देता है इससे प्रेरित होकर व्यक्ति अन्य प्रकार के हितों की तुलना में राष्ट्र के हित को अन्य शब्दों से ऊंचा स्थान देता है।"[1]

राष्ट्र और राष्ट्रवाद

राष्ट्रों का निर्माण ऐसे समूह द्वारा किया जाता है जो कुल या भाषा अथवा धर्म या फिर जातीयता जैसी कुछेक निश्चित पहचान का सहभागी होता है। परंतु राष्ट्र की निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि ऐसे निश्चित गुण हैं ही नहीं जो सभी राष्ट्रों में समान रूप से मौजूद हों। दरअसल राष्ट्र एक काल्पनिक समुदाय है जिसमें सामूहिक विश्वास, साझा इतिहास, भूक्षेत्र, साझे राजनीतिक आदर्श, साझी राजनीतिक पहचान, और राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का अधिकार का होता है। राष्ट्रवाद भावना भी है और विचारधारा भी। इन अर्थों में राष्ट्रवाद अपने राष्ट्र के प्रति व्यक्ति की निष्ठा को सर्वोपरि स्थान देता है तथा राष्ट्रवाद राष्ट्रीय चेतना का ही परिणाम होता है।

आधुनिक राष्ट्र-राज्य की अवधारणा के विकास की पृष्ठभूमि

राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रवाद की अवधारणा दुनिया में सबसे पहले यूरोप में सोलहवीं-सत्रहवीं सदी में विकसित हुई। यह विचारधारा मोनोलिथिक रूप में नहीं आई, इसका विकास धीरे-धीरे हुआ। यूरोप में जब सोलहवीं-सत्रहवीं सदी में सामंतवाद का विघटन हो रहा था और क्रमिक रूप में पूंजीवाद का उद्भव हो रहा था तभी अठारहवीं शताब्दी में राष्ट्रवाद का उद्भव हुआ। "एक विचारधारा के रूप में राष्ट्रवाद का उदय यूरोप में 18वीं शताब्दी के अंत में हुआ। यह इस मान्यता के रूप में व्यक्त हुआ कि प्रत्येक राष्ट्र को अपना शासन स्वयं चलाने का अधिकार

---

[1] गाबा, ओम प्रकाश, *राजनीति विज्ञान विश्वकोश*, पृ. 508

होना चाहिए।"[2] सामंतवाद के पतन के बाद यूरोप में कुछ ऐसे महत्त्वाकांक्षी शासक आए जिनकी स्थिति पहले स्वयं एक बड़े सामंत की तरह थी, और ये अपने से छोटे सामंतों की क्षमता और शक्ति पर निर्भर थे। धीरे-धीरे कुछ आंतरिक और बाह्य आर्थिक-भौगोलिक परिस्थितियों के कारण संयोग और आकस्मिक रूप से सामंतवाद का पतन हुआ और राष्ट्र-राज्य के उद्भव की परिस्थितियाँ तैयार हुईं।

इस संदर्भ में प्रायः कहा जाता है कि 'यूरोप में राष्ट्र-राज्य का उद्भव योजना से कम और संयोग से अधिक हुआ'। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि सामंतवाद की परिणति राजनीतिक अराजकता में भी हो सकती थी परंतु यूरोप के कुछ महत्त्वाकांक्षी शासकों के कारण राजनीतिक अराजकता की स्थिति नहीं बनी और राष्ट्र-राज्यों के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। सामंतवाद के विघटन से उत्पन्न परिस्थितियों का लाभ उठाते हुए यूरोप के महत्त्वाकांक्षी शासकों ने सेना और नौकरशाही का विकास किया। राष्ट्र-राज्यों की राष्ट्रीय सीमाएं खींचकर इन शासकों ने स्वयं को राष्ट्र-राज्य के प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत किया। इसी के बाद धीरे-धीरे फ्रांस, ब्रिटेन, स्विट्जरलैंड जैसे राष्ट्र अस्तित्व में आए। परंतु ये राष्ट्र जनता द्वारा स्वीकृत और समर्थित नहीं थे। यूरोपीय शासकों ने इन भू-भागों को अपनी निजी संपत्ति के रूप में प्रस्तुत किया था। इनकी राष्ट्रीय सीमाओं को अंतरराष्ट्रीय अथवा यूरोपीय स्तर पर स्वीकृति मिलना शेष था। फ्रांस, ब्रिटेन, स्विट्जरलैंड आदि देशों के शासकों ने जो राष्ट्रीय सीमाएं निर्धारित की थीं इसकी सार्वजनिक स्वीकृति सन् 1648 में वेस्टफेलिया की संधि में मिली।

वेस्टफेलिया की संधि यूरोप में पहला अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन था, जिसमें सभी राष्ट्र-राज्यों की राष्ट्रीय सीमाओं को स्वीकृति दे दी गई। वेस्टफेलिया की संधि में राष्ट्रों की पहचान उसके वंशानुगत शासक के आधार तय की गई। इस संधि में राष्ट्र-राज्यों का आपसी संबंध राजा का राजा से संबंध माना गया। राष्ट्रों के आपसी संबंध अंतरराष्ट्रीय नियमों से संचालित करने पर सहमति बनी और एक दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप करने को अंतरराष्ट्रीय नियमों का उल्लंघन माना गया।

इस तरह सामंतवाद के विघटन के बाद यूरोप में राष्ट्र-राज्य अस्तित्व में आए। परंतु इस संधि और सर्वसम्मत व्यवस्था में जनता को प्रतिनिधित्व और महत्त्व नहीं दिया गया था अर्थात इस समय राजा ही राष्ट्र का पर्याय बन गया था। इन्हीं परिस्थितियों में मध्य वर्ग का उदय हुआ और नवोदित मध्य वर्ग राजतंत्र की शक्तियों पर अंकुश लगाने का प्रयास करने लगा। अमेरिकी

---

[2] वही, पृ. 509

क्रांति में जब एक उपनिवेश स्वतंत्र होकर राष्ट्र-राज्य के रूप में संगठित हो गया, जिससे मध्य वर्ग की आकांक्षाओं को और मजबूती मिली।

अमेरिकी क्रान्ति के बाद फ्रांस की क्रांति के महत्त्वपूर्ण विचारक और अपने समय के सबसे महान चिंतक रूसो के विचारों ने मध्य वर्ग को व्यापक बौद्धिक समर्थन दिया और उसे सजग तथा क्रांतिकारी बनाए रखा। रूसो को राष्ट्रवाद का जनक माना जाता है। रूसो ने राष्ट्र के पूरे संदर्भ को बदल दिया। पहली बार रूसो ने ही कहा था कि राष्ट्र शासकों से नहीं जनता से बनता है। रूसो ने जनसंप्रभुता की अवधारणा दी और 'कॉमन विल इज दि सॉवरेन विल' का नारा दिया अर्थात संप्रभुता शासक में नहीं बल्कि जनता में निहित होती है। फ्रांस की क्रांति को रूसो की विचारधारा से संबल मिला। रूसो के विचारों से फ्रांस में मानव अधिकारों और नागरिक स्वतंत्रता की घोषणा हुई, समानता की अवधारणा को बल मिला। फ्रांस की जनता रूसो की जनसंप्रभुता की अवधारणा से अत्यंत प्रभावित थी। जनसंप्रभुता के इसी विचार से आधुनिक राष्ट्रवाद का जन्म हुआ। स्पष्टतः सोलहवीं-सत्रहवीं के यूरोप का राष्ट्रवाद 'शासक वर्ग का राष्ट्रवाद' था और फ्रांस की क्रांति के बाद उपजा राष्ट्रवाद 'जनता का राष्ट्रवाद' था। जनता के इसी राष्ट्रवाद से आधुनिक राष्ट्र-राज्य और राष्ट्रवाद का विकास हुआ।

"वस्तुतः राष्ट्रवाद की सहज-स्वाभाविक अभिव्यक्ति सबसे पहले फ्रांसीसी क्रांति (1789) के रूप में सामने आई।"[3] नेपोलियन बोनापार्ट ने फ्रांस की जनता को फ्रांसीसी गौरव के नाम पर संगठित करना शुरू किया तो दूसरी ओर नेपोलियन की सेना ने यूरोप में फ्रांस की क्रान्ति के आदर्शों स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के नारे के साथ फ्रांस के राष्ट्रीय गौरव पर बल देना शुरू कर दिया। फ्रांसीसी गौरव की स्थापना के इन प्रयासों की प्रतिक्रिया में यूरोप के अन्य राष्ट्र अपने-अपने राष्ट्रीय-गौरव पर जोर देने लगे और जर्मन गौरव, स्विस गौरव, इटैलियन गौरव की बात होने लगी। इससे यूरोप में नेपोलियन बोनापार्ट का सैन्य अभियान कमजोर हुआ लेकिन फ्रांसीसी राष्ट्रवाद अब अखिल यूरोपीय राष्ट्रवाद बन गया था। सन् 1815 में वाटरलू के युद्ध में नेपोलियन की पराजय के बाद आस्ट्रिया के मेटरनिख के नेतृत्व में वियना कांग्रेस में यूरोप में पुनः राजतंत्र की पुरानी व्यवस्था की स्थापना पर सहमति हुई और जनता की संप्रभुता को नियंत्रित करने का प्रयास किया जाने लगा। यही कारण रहा कि उन्नीसवीं सदी में यूरोप के अलग-अलग देशों में क्रान्ति हुई और राष्ट्र-राज्य की अवधारणा तथा राष्ट्रवादी विचारों का और अधिक प्रसार हुआ।

---

[3] वही, पृ. 509

आगे चलकर यूरोप में औद्योगिक क्रांति हुई और दुनिया के देशों में समाजवादी विचारों का व्यापक प्रचार-प्रसार शुरू हुआ। मार्क्स ने दुनिया के मजदूरों को एक होने का नारा दिया। समाजवाद और मार्क्सवाद ने निजी संपत्ति का विरोध किया। इस विचारधारा को निम्न मध्य वर्ग तथा सर्वहारा वर्ग का व्यापक समर्थन मिला। यूरोप के देशों में प्रायः हर जगह मजदूर आंदोलन सक्रिय होने लगा। वर्ग-संघर्ष और बदलाव की बात होने लगी। मध्यवर्ग को उत्पादन के संसाधनों से वंचित करने की बात होने लगी। मध्यवर्ग ने निजी संपत्ति के विरोध वाली मार्क्सवादी विचारधारा का विरोध किया, और भविष्य के बदलावों को रोकने के लिए राष्ट्रवादी विचारों को हथियार की तरह इस्तेमाल किया। दुनिया के मजदूरों एक हो के मार्क्सवादी नारे के बरअक्स मध्यवर्ग ने राष्ट्रवादी विचारों को खड़ा कर दिया, अर्थात विश्वक्रांति और अंतरराष्ट्रवाद के विचारों का प्रसार रोकने के लिए इसके विरोध में राष्ट्रवाद पर बल दिया जाने लगा। राष्ट्रवाद का लक्ष्य निम्न मध्य और सर्वहारा वर्ग को क्रांति करने से रोकना और राष्ट्रवाद से जोड़ना बन गया। लोगों का ध्यान घरेलू समस्याओं पर अधिक होने की स्थिति में दूसरे राष्ट्रों पर आक्रमण का अभियान चलाया गया, और यहीं से एशिया और अफ्रीका के देशों पर अपना वर्चस्व स्थापित करने की एक नई व्यवस्था की शुरुआत हुई, जो साम्राज्यवादी प्रसार का आरंभ था। साम्राज्यवाद की विचारधारा का विकास इसी के बाद शुरू हुआ।

राष्ट्रवाद के अंतर्गत साम्राज्यवादी प्रसार को राष्ट्रीय गौरव समझा जाने लगा और राष्ट्रीय गौरव के विस्तार के क्रम में एशिया और अफ्रीका के देशों के औपनिवेशीकरण का आरंभ हुआ। राष्ट्रवाद के इस विजय अभियान के विरुद्ध भारत एवं दुनिया के अन्य देशों में चला औपनिवेशिक संघर्ष भी राष्ट्रवाद ही था। "एशिया और अफ्रीका में ब्रिटिश, फ्रांसीसी, डच और पुर्तगाली साम्राज्य के विघटन के मूल में राष्ट्रवाद ही था।"[4]

भारत में राष्ट्रवाद एवं राष्ट्रीय चेतना का उद्भव

ब्रिटिश भारत में सन् 1789 की फ्रांस की क्रांति के पहले ही आ गए थे। भारत में कंपनी राज की शुरुआत सन् 1757 के प्लासी और सन् 1764 के बक्सर युद्ध में कंपनी के विजय अभियान से मानी जाती है। जैसे-जैसे यूरोप में समानता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के विचारों का प्रसार हुआ, भारत की शासन-प्रणाली पर भी इसका प्रभाव पड़ा। भारत में ब्रिटिश शासन और नीति पर यूरोपीय देशों में समय-समय पर होने वाली क्रांतियों और वैचारिक बदलावों का गहरा

---

[4] *राजनीतिक सिद्धान्त,* नई दिल्ली, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, पृ. 95

असर पड़ा। आरंभ में यूरोप के देशों ने भारत में व्यापार करने की योजना के साथ याचक के रूप में प्रवेश किया था। इस व्यापार का भुगतान संतुलन भारत के पक्ष में झुका हुआ था। यूरोपीय देशों को राजस्व की हानि हो रही थी। यूरोपीय व्यापारियों में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी धीरे-धीरे व्यापारिक कंपनी से राजनीतिक शक्ति बन गई। आगे चलकर प्लासी और बक्सर के युद्ध में कंपनी की विजय हुई। बंगाल की दीवानी मिलने के बाद इससे प्राप्त होने वाले राजस्व से कंपनी ने भारतीय वस्तुओं को खरीदना शुरू कर दिया। यहीं से भारत के धन के बहिर्गमन की शुरुआत हुई। सन् 1757 से 1813 तक कंपनी ने भारत के राजस्व का अधिकाधिक दोहन किया। यूरोप में औद्योगिक क्रांति के बाद सन् 1813 के चार्टर द्वारा भारत का बाजार ब्रिटिश वस्तुओं के लिए खोल दिया गया और कंपनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया गया।

भारत में आधुनिक राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय चेतना के विकास को इसी पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है। सन् 1813 के चार्टर से जब भारतीय बाज़ारों को ब्रिटिश वस्तुओं के लिए खोल दिया गया तभी से औद्योगिक पूंजीवाद की शुरुआत मानी जाती है। यहीं से ब्रिटेन ने भारत में बदलाव की प्रक्रिया की शुरुआत की। भारत में रेलवे, आधुनिक यातायात और संचार व्यवस्था के रूप में टेलीग्राम व्यवस्था का विकास किया गया। न्याय एवं विधि व्यवस्था की स्थापना हुई। लॉर्ड मैकाले ने ब्रिटिश संहिता का निर्माण किया और देश में एक नवीन अंग्रेजी शिक्षा पद्धति को लागू किया गया। परंतु यह सब औपनिवेशिक शोषण को सरल बनाने का ही प्रयास था।

औपनिवेशीकरण के साथ-साथ आधुनिक राष्ट्र-राज्य की विचारधारा धीरे-धीरे एशिया और अफ्रीका के देशों में फैलने लगी। भारत भी इनमें से एक था। अलग-अलग उपनिवेशों में जहाँ-जहाँ यह विचारधारा फैली, देश-काल की परिस्थितियों के अनुरूप इसके स्वरूप में अंतर भी आया। राष्ट्रवाद ने उपनिवेशों में सीमेंटिक फोर्स अर्थात अलग-अलग वर्ग के लोगों को आपस में जोड़ने का कार्य किया। हालांकि, भारत के संदर्भ में राष्ट्रवाद और संप्रदायवाद का उद्भव लगभग साथ-साथ हुआ, दोनों की नींव एक ही समय तैयार हुई, परंतु राष्ट्रवाद लोगों को आजादी की ओर ले गया और संप्रदायवाद देश के विभाजन का कारण बना।

अंग्रेज जब भारत में आए तब उनका एकमात्र उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण करना था। अंग्रेजों ने भारत में अधिकाधिक राजस्व की वसूली की। जन-जातीय क्षेत्रों में अपना प्रसार किया। अफीम के खेती पर पाबंदी लगा दी। जंगली उत्पादों के उपयोग का निषेध कर दिया और झूम की खेती पर रोक लगा दी। ब्रिटिश शासन ने किसानों और जनजातीय क्षेत्रों में प्रसार

किया, किसानों पर राजस्व का दबाव डाला और उनके जीवन में हस्तक्षेप किया। "भारत में अंग्रेजी राज्य का एक प्रमुख अंग भारतीय कृषि व्यवस्था को प्रभावित करना था। प्राचीन कृषि व्यवस्था नवीन प्रशासनिक ढांचे के अधीन शनैः-शनैः टूट गई।...इन सभी ने मिलकर कृषक को अधिकाधिक निर्धनता के गड्ढे में धकेल दिया।...19वीं शताब्दी में कृषकों की अशांति, विरोधों, विद्रोहों तथा प्रतिरोधों में प्रकट हुई।"[5] अंग्रेजों के अत्याचारों के विरुद्ध किसान और जनजातीय लोगों की प्रतिक्रिया स्वाभाविक रूप में प्रस्फुटित हुई।

कुछ इतिहासकार किसानों और जनजातीय लोगों की इस प्रतिक्रिया को आधुनिक राष्ट्रवाद की प्रथम अभिव्यक्ति के रूप में देखने पर जोर देते हैं। परंतु इस प्रतिक्रिया में सामूहिक चेतना का अभाव था। अतः इस स्वाभाविक प्रतिक्रिया को 'आद्य राष्ट्रवाद' कहा जा सकता है। भारतीय जन-जीवन और समाज में अंग्रेजों ने हस्तक्षेप करना जारी रखा। उनका अत्याचार और शोषण बढ़ता रहा और आगे चलकर सन् 1857 में अंग्रेजों के विरुद्ध भारतीयों द्वारा पहला बड़ा विद्रोह हुआ। यद्यपि ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों और ब्रिटिश अधिकारियों ने इस विद्रोह को ब्रिटिश नीतियों से असंतुष्ट कुछ सिपाहियों का विद्रोह सिद्ध करने की कोशिश की परंतु सन् 1857 के विद्रोह की व्यापकता को देखते हुए इसे राष्ट्रवाद की प्रथम सफल अभिव्यक्ति कहा जा सकता है, क्योंकि यह भारत के एक बड़े भूभाग में हुआ था। इस विद्रोह में सामूहिकता थी। यह पहले से अधिक संगठित रूप में अभिव्यक्त हुआ था और सफल रहा इसलिए इसे राष्ट्रवाद की प्रथम अभिव्यक्ति माना जाना चाहिए। सन् 1858 में भारत के शासन को प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश राज के अधीन करना इसका सबसे बड़ा प्रमाण था।

राष्ट्रवाद तथा समाज एवं धर्म सुधार आंदोलन

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतीय पुनर्जागरण का दौर शुरू हुआ। कुछ इतिहासकार राष्ट्रवाद के पश्चिमी प्रतिमानों के आधार पर भारत में आधुनिक राष्ट्रवाद की शुरुआत इन्हीं धर्म-सुधार आंदोलनों से मानते हैं। धर्म-सुधार आंदोलनों को अंग्रेजी शासन के प्रभाव और इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया दोनों का परिणाम माना जाता है।

ए.आर. देसाई ने लिखा है "ब्रिटिश शक्तियों की पारस्परिक क्रिया-प्रक्रिया के फलस्वरूप भारतीय राष्ट्रवाद का उदय और विकास हुआ।"[6] जहाँ किसान और जन-जातीय आंदोलन क्षेत्रीय स्तर पर हुआ, वहीं समाज और धर्म-सुधार आंदोलन की परिणति भारतीय नवजागरण

---

[5] ग्रोवर, बी. एल., अलका मेहता, यशपाल, *आधुनिक भारत का इतिहास : एक नवीन मूल्यांकन,* पृ. 350

[6] देसाई, ए. आर., *भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि,* पृ. 22

के रूप में हुई, जिसमें यह धारणा अंतर्निहित थी कि यदि हमें ब्रिटिश समाज के समान विकसित होना है और भारतीय समाज तथा भारतीय राष्ट्र को आगे बढ़ाना है तो पहले हमें अपने सामाजिक-धार्मिक कमजोरियों को दूर करना होगा और सामाजिक-धार्मिक सुधार करना होगा। इसलिए जिसे समाज और धर्म-सुधार आंदोलन कहा जाता है वह दरअसल भारतीय आधुनिक राष्ट्रवाद की ही अभिव्यक्ति है, क्योंकि इसमें यह समझदारी निहित थी कि भारत एक सशक्त राष्ट्र के रूप में तभी विकसित हो सकता है जब भारतीय समाज और धर्म में व्याप्त बुराइयों को दूर कर लिया जाएगा। इसीलिए राजा राममोहन राय से लेकर स्वामी विवेकानन्द तक सभी राष्ट्र के उत्थान पर जोर देते हैं और सामाजिक बुराइयों को दूर करने की बात करते हैं।

भारतीय समाज और धर्म में व्याप्त बुराइयों को दूर करके ही जाति विभाजन, लिंग विभाजन, क्षेत्रीय विभाजन को कम करके अखिल भारतीय स्तर पर भारतीयों में 'हम' की भावना का विकास हो सकता था। इस तथ्य की सफल पहचान करने में सक्षम होने के कारण ही समाज और धर्म-सुधार आंदोलन से भारत में आधुनिक राष्ट्रवाद का उद्भव माना जा सकता है।

भारत में राष्ट्रीय चेतना के विकास संबंधी विभिन्न मत

भारतीय राष्ट्रवाद के संबंध में पाश्चात्य विचारकों की दो धारणाएं हैं : एक धारणा यह है कि भारत राष्ट्र नहीं है और न ही भारत राष्ट्र बन सकता है। इस प्रकार की अवधारणा सबसे पहले सन् 1888 में एक ब्रिटिश अधिकारी जॉन स्ट्रैची ने दी थी। स्ट्रैची के अनुसार राष्ट्रवाद के पश्चिमी मॉडल पर भारतीय समाज खरा नहीं उतरता है। उसका कहना था कि भारत क्षेत्र और जाति के आधार पर बहुत अधिक विभाजित है इसलिए यह एक राष्ट्र नहीं बन सकता है। स्ट्रैची ने यहां तक दावा किया कि यूरोप में जो अंतर एक पुर्तगीज और जर्मन में है उससे अधिक अंतर भारत में एक पंजाबी और बंगाली में है। स्ट्रैची का मानना था "भारत देश जैसी कोई चीज न तो है और न कभी थी...न तो कोई भारतीय राष्ट्र है और नहीं भारत के लोग हैं जिनके बारे में हम इतना सुनते हैं...यह असंभव है कि पंजाब, बंगाल, मद्रास और पश्चिमोत्तर प्रांतों के लोग अपने को एक महान भारतीय राष्ट्र के अंग मानें।"[7] स्ट्रैची के अनुसार इस तरह के विभक्त समाज में भारत एक राष्ट्र के रूप में विकसित नहीं हो सकता है। इसी तरह की बात आगे चलकर चर्चिल ने सन् 1945 में कही कि भारत आंतरिक रूप से इतना विभाजित है कि

---

[7] सरकार, सुमित, *आधुनिक भारत,* राजकमल प्रकाशन, पृ. 18

अगर यह आजाद होता है तो इसके इतने टुकड़े हो जाएंगे कि इसको एक राष्ट्र के रूप में जोड़कर रखने के लिए ब्रिटिश सेना की जरूरत पड़ेगी।

दूसरी धारणा के अनुसार कुछ विचारक भारत के राष्ट्र के रूप में विकसित होने के पीछे ब्रिटिश शासन को उत्तरदायी ठहराते हैं। इनके अनुसार ब्रिटिश राज ने भारत को राष्ट्र बनाया क्योंकि ब्रिटिश शासन ने ही भारत में रेलवे, टेलीग्राम आदि का विकास किया, आधुनिक प्रिंटिंग प्रेस का गठन किया, जनगणना का कार्य किया और आधुनिक उपकरणों की आपूर्ति की। इस प्रकार अंग्रेजों ने भारत को एक राष्ट्र के रूप में विकसित होने की परिस्थितियां दीं। इसी के बल पर भारत राष्ट्र के रूप में निर्मित हो सका।

एक अन्य धारणा सन् 1983 में बेनेडिक्ट एंडरसन ने दी। *इमैजिंड कम्युनिटीज* में बेनेडिक्ट एंडरसन ने स्थापना दी कि राष्ट्र होता नहीं है यह एक वैचारिक निर्मिति के रूप में सोचा जाता है, राष्ट्र की परिकल्पना की जाती है। "एंडरसन के अनुसार राष्ट्र भाषा, नस्ल या धर्म की तरह किसी निश्चित समाजशास्त्रीय स्थितियों का अनिवार्य उत्पाद न होकर अपने अस्तित्व में काल्पनिक अवधारणा है। यह सामूहिक अस्मिता की अन्य अवधारणाओं मसलन वर्ग, क्षेत्र, लिंग, नस्ल, धर्म आदि से अलग है।"[8] एंडरसन के अनुसार भारतीयों में राष्ट्र के रूप में स्थापित होने का विचार ब्रिटिश शासन के कारण आया और इसके प्रमुख आधार हैं : अंग्रेजों द्वारा भारत की राजनीतिक सीमा खींचना, भारत में प्रिंट मीडिया का विकास करना और जनगणना करवाना। इस प्रकार बेनेडिक्ट एंडरसन ने यह विचार दिया कि भारत में राष्ट्र और राष्ट्रवाद की संकल्पना अंग्रेजों के कारण विकसित हुई है।

भारत में राष्ट्रवाद के विकास के संबंध में पश्चिमी विचारकों के उपर्युक्त तर्क एकांगी हैं। यदि भारत में ब्रिटिश राज स्थापित नहीं हुआ होता तो भी 18वीं सदी के भारत की क्षेत्रीय ताकतों में से कोई एक ताकत सत्ता में आ जाती और भारत को संगठित करती जैसा कि भारत के इतिहास में समय-समय पर हुआ है। दूसरा भारत में आधुनिक विकास की नींव रखने के पीछे अंग्रेजों का कोई पवित्र उद्देश्य नहीं था। इसके पीछे उनका उद्देश्य आधुनिक अवसंरचना का इस्तेमाल कर भारत का अधिक से अधिक आर्थिक शोषण करना था। ब्रिटिश राज में अधिकांश विकास कार्य शोषण की प्रक्रिया को सरल बनाने के लिए ही किए गए। साथ ही, भारत में जंबूद्वीप की अवधारणा प्राचीन काल से ही विद्यमान रही है। कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में इसका

---

[8] कुमार, प्रमोद, *राष्ट्रीयता की अवधारणा और भारतेन्दुयुगीन साहित्य,* पृ. 16

उदाहरण मिलता है। भारत में चक्रवर्ती सम्राट की संकल्पना भी रही है, जिसके अंतर्गत एक बहुत बड़े भू-भाग की परिकल्पना की गई है, अर्थात भारत के प्राचीन साहित्य में भारतीय उपमहाद्वीप की संकल्पना वैदिक काल से ही मौजूद है। इस विचार को किसी पश्चिमी विचारक से आयात नहीं किया गया।

जहाँ तक बेनेडिक्ट एंडरसन के तर्क का सवाल है कि अंग्रेजों ने भारत में प्रिंट मीडिया का विकास किया और राष्ट्रवाद की वैचारिकी निर्मित की तो ऐतिहासिक तथ्य इसके ठीक उलट है। लॉर्ड वेलेजली से लेकर लॉर्ड लिटन तक सभी अंग्रेज गवर्नर जनरलों द्वारा समाचार पत्रों की स्वायत्तता को दबाया गया और ब्रिटिश शासन के विरुद्ध राष्ट्रवादी भावनाओं पर आधारित लेख छपने पर कई देशी पत्र-पत्रिकाओं को जब्त कर लिया गया। इनके संपादकों को गिरफ्तार भी किया गया। प्रेस की आजादी को दबाने के लिए ही वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट लाया गया था। ब्रिटिश अधिकारियों का तो प्रधान उद्देश्य था कि राष्ट्रवादी विचार आम जनमानस तक न पहुंच पाएं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण *अमृत बाजार पत्रिका* और *सोमप्रकाश* हैं, जिन पर राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति करने के लिए प्रतिबंध लगा दिया गया था। अंग्रेजों ने जनगणना भी जाति के आधार पर कराई थी जिसके मूल में अलगाव की भावना को बढ़ावा देना और राष्ट्रीय ऐक्य को खंडित करना था। अंग्रेजों ने भारत की जनगणना जोड़ने के लिए नहीं तोड़ने के लिए कराई थी।

इस विषय में सबाल्टर्न इतिहासकार पार्थ चटर्जी का तर्क सबसे मजबूत है। पार्थ चटर्जी का प्रश्न है कि राष्ट्रवादी विचारों के प्रसार के लिए अंग्रेजों द्वारा लाई गई प्रिंट मीडिया, अखबार और साहित्य आदि की पहुँच भारतीय समाज के कितने प्रतिशत लोगों तक थी। उस समय भारत की लगभग नब्बे प्रतिशत से अधिक जनता निरक्षर थी, उन्हें अंग्रेजी का ज्ञान ही नहीं था।

पार्थ चटर्जी का मत है कि अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में बहुत कम लोग ऐसे थे जो नियमित रूप से अखबार या साहित्य पढ़ रहे थे, जिससे उनके अंदर राष्ट्रवाद की समझ विकसित हुई। इनकी संख्या एक प्रतिशत से भी कम थी। प्रिंट मीडिया के माध्यम से राष्ट्रवादी विचारों के प्रसार का तर्क निराधार है। इस तर्क में मुट्ठी भर अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त बुद्धिजीवी वर्ग के राष्ट्रवाद का स्वीकार है और देश की बहुसंख्यक जनता के राष्ट्रवाद का नकार है। औपनिवेशिक समाजों की राष्ट्रीयता पर विचार करते हुए पार्थ चटर्जी ने लिखा है "साम्राज्यवाद विरोधी राष्ट्रीयता

अपने संप्रभु क्षेत्र का निर्माण औपनवेशिक समाजों के भीतर राजनीतिक लड़ाई से पहले ही शुरू कर देती है।"[9]

राष्ट्रवाद का भारतीय विमर्श

भारतीय विचारकों का एक वर्ग राष्ट्रवाद को चेतना के स्तर पर स्वीकार करता है, भौगोलिक रूप में नहीं। इनका मानना है कि चेतना के रूप में भारतीय राष्ट्रवाद प्राचीन काल से ही विकसित है। इनके अनुसार भारत का भौगोलिक आकार विशिष्ट है और जम्बूद्वीप और चक्रवर्ती सम्राट की अवधारणा पहले से ही चली आ रही है। इस संबंध में कालिदास के *मेघदूत* का उदाहरण भी दिया गया। *मेघदूत* की कहानी में यक्षराज को इंद्र का शाप मिला है कि वह एक वर्ष तक अपनी पत्नी से नहीं मिल सकता है। पत्नी वियोग में यक्षराज बादल के माध्यम से संदेश भेजता है। यक्षराज का संदेश लेकर बादल कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक की यात्रा करता है और इस यात्रा में वह भारत की विस्तृत भौगोलिक स्थिति का परिचय देता है। यदि भारत में प्राचीन काल से ही राष्ट्रवाद की अवधारणा नहीं रही है तो कालिदास में यह चेतना कैसे आई कि कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक भारत की भौगोलिक स्थिति एक ही है। राष्ट्रवाद का यह देशी विमर्श है।

बंकिम चंद्र चटर्जी ने भौगोलिक आकार से आगे बढ़कर राष्ट्र को आध्यात्मिक रूप में देखने का कार्य किया। अपनी रचना *आनंद मठ* में बंकिम चंद्र चटर्जी ने *वंदे मातरम* गीत के माध्यम से राष्ट्र को भौगोलिक इकाई से ऊपर देवी के रूप में स्थापित कर दिया और राष्ट्र की एक अमूर्त अवधारणा दे दी। बंकिम चंद्र चटर्जी ने पहली बार राष्ट्र को माँ के रूप में प्रस्तुत किया। इस प्रकार बंकिम चंद्र चटर्जी ने राष्ट्र की आध्यात्मिक अवधारणा दी। आगे चलकर अवनीन्द्र नाथ टैगोर ने बंकिम चन्द्र द्वारा परिकल्पित राष्ट्र की अवधारणा को एक रूप और आकार दे दिया। उन्होंने पहली बार भारत के नक्शे के आधार पर भारत माता का चित्र बनाया। इस प्रकार राष्ट्रवाद आध्यात्मिकता से जुड़ गया।

कुछ विचारक राष्ट्रवाद और देशभक्ति को अलग-अलग देखते हैं। रवीन्द्र नाथ टैगोर इनमें प्रमुख हैं। उनका मानना है, "राष्ट्रवाद हमारी अंतिम आध्यात्मिक मंजिल नहीं हो सकता। मेरी शरण स्थली तो मानवता है। मैं हीरों की कीमत पर शीशा नहीं खरीदूंगा और जब तक मैं जीवित हूं देशभक्ति को मानवता पर कदापि विजय नहीं होने दूंगा।...टैगोर पश्चिमी साम्राज्यवाद का विरोध करने और पश्चिमी सभ्यता को खारिज करने के बीच फर्क करते थे।...उन्हें भय था कि तथाकथित भारतीय परंपरा के पक्ष में पश्चिम की खारिजी का विचार यहीं तक सीमित रहने

---

[9] वही, पृ. 17

वाला नहीं है। यह अपने देश में मौजूद ईसाई, यहूदी, पारसी और इस्लाम समेत तमाम विदेशी प्रभावों के खिलाफ भी आसानी से आक्रामक हो सकता है।"[10]

राष्ट्रवाद की ये अवधारणाएँ आभिजात्य वर्ग तक ही सीमित रहीं। यह राष्ट्रवाद सीमित लोगों का ही राष्ट्रवाद बना रहा। भारत की बहुसंख्यक जनता और समाज के निम्न वर्ग के लोगों को राष्ट्रवाद से जोड़ने का कार्य सर्वप्रथम महात्मा गांधी ने किया। गांधी जी ने राष्ट्रवाद के सामाजिक आधार का विस्तार किया। इस संबंध में सन् 1915 में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना दिवस पर गांधी जी द्वारा दिया गया सम्बोधन महत्त्वपूर्ण है, जब उन्होंने कहा था हमारा राष्ट्रीय आंदोलन तब तक सफल नहीं हो सकता है जब तक हम देश के साढ़े सात लाख ग्रामीणों को नहीं जोड़ लेंगे। सन् 1920 में महात्मा गांधी के नेतृत्व में देश में पहला असहयोग आंदोलन हुआ। इस आंदोलन में बड़ी संख्या में किसान शामिल हुए और असहयोग आंदोलन देश का पहला अखिल भारतीय जन आंदोलन बन गया। इस आंदोलन ने पूरे देश को आंदोलित कर दिया था। इसकी लोकप्रियता से ब्रिटिश अधिकारी हतप्रभ रह गए क्योंकि लॉर्ड डफरिन ने कभी कांग्रेस को 'मुट्ठी भर अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था' कहा था।

सन् 1920 के असहयोग आंदोलन तक आते-आते राष्ट्र के सामाजिक आधार का विस्तार हो गया। भारत का राष्ट्रवाद यूरोपीय राष्ट्रवाद के उलट एक अनूठा उदाहरण बन गया। पश्चिम के राष्ट्रवाद का मॉडल भारत के राष्ट्रवाद के मॉडल से अलग था। पश्चिम के राष्ट्रवाद का आधार था – 'एक भाषा एक राष्ट्र'। भारत भाषाई और सांस्कृतिक विभिन्नताओं वाला राष्ट्र था। भारत का राष्ट्रवाद समावेशी राष्ट्रवाद के रूप में विकसित हुआ। भारत ने 'विविधता में एकता' वाला राष्ट्रवाद अपनाया। यह पश्चिमी विचारकों के लिए अनूठा और आश्चर्य का विषय बन गया, क्योंकि दुनिया में यह राष्ट्रवाद का नया मॉडल था।

आरंभिक हिन्दी अनुवाद और हिन्दी-उर्दू विवाद

सर्वप्रथम पहले ईसाई मिशनरियों ने 19वीं शताब्दी में हिन्दी-उर्दू विवाद का आधार तैयार किया और 'हिन्दी को हिंदू तथा उर्दू को मुसलमान' बनाने का काम किया। आगे चलकर हिन्दी और उर्दू दोनों पक्ष के लेखकों ने इस विवाद को और गहरा कर दिया। संयुक्त प्रांत में हिंदू और मुसलमानों का साझा भद्र वर्ग उर्दू और फारसी लिपि का प्रयोग करता था। इसी भद्र वर्ग ने

---

[10] *राजनीतिक सिद्धान्त,* नई दिल्ली, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, पृ. 105

सरकारी दफ्तरों और अदालतों में उर्दू और फारसी लिपि को मान्यता दिलाई थी। "इस भद्र वर्ग की एकता में पहली दरार 1867 में पड़ी जब सर सैयद अहमद ने पश्चिमोत्तर प्रांत की देशी भाषा में एक विश्वविद्यालय खोलने का प्रस्ताव सरकार के सामने रखा। इससे यह बहस उठ खड़ी हुई कि इस प्रांत की देशी भाषा कौन-सी है - उर्दू या हिन्दी?... क्योंकि सर सैयद ने प्रांत की सार्वजनिक भाषा के रूप में सिर्फ उर्दू को मान्यता दी।"[11] जबकि उर्दू एक छोटे भद्र वर्ग की भाषा थी जिसमें ज्यादातर सरकारी नौकरी करने वाले हिंदू और मुसलमान थे।

लिपि का प्रश्न और भाषाई मतभेद

हिन्दी-उर्दू विवाद मूल रूप में नागरी और फारसी लिपि का विवाद था। सरकारी कामकाज में जो लिपि प्रयोग की जाती थी उसमें फारसी के शब्द अधिक थे। इस भाषा का चलन हिंदू परिवारों में कम था। इस कारण अधिक शिक्षित होने के बावजूद हिन्दी और नागरी लिपि का व्यवहार करने वाले हिंदू सरकारी नौकरियों से वंचित हो जा रहे थे। इससे हिंदुओं में असंतोष पैदा होना स्वाभाविक था। इसी असंतोष के चलते सरकारी काम-काज में नागरी लिपि को लागू करने की मांग की गई।

सन् 1868 में राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने यह मांग उठाई और उन्होंने सरकार को इसके लिए एक मेमोरेंडम दिया, जिसका नाम था- 'कोर्ट कैरेक्टर इन दी अपर प्रोविंसेस ऑफ इंडिया'। राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने सिर्फ नागरी लिपि को लागू करने की मांग की थी, उन्होंने भाषाई स्वरूप में परिवर्तन का कोई प्रश्न नहीं उठाया था। "हिन्दी की दुनिया के भीतर भी भाषा की परिभाषा विवादों से घिरी हुई थी। बनारस के रहने वाले और महत्त्वपूर्ण अधिकारी तथा पाठ्य-पुस्तकों के संकलनकर्ता शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' (1823-95) सरीखे लोग हिन्दी की स्वतंत्र 'प्रगति' के हामी थे, फारसी-उर्दू परंपरा से उसके सांस्कृतिक अलगाव को स्वीकार करते थे, लेकिन उससे फारसी मूल के शब्दों का 'सफाया करने' पर आपत्ति उठाते थे। दूसरी तरफ शकुंतला (1863) के हिन्दी अनुवादक लक्ष्मण सिंह (1826-96) जैसे लोग इससे अलग राय रखते थे : उन्होंने लिखा कि उनके विचार में हिन्दी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ हैं। हिन्दी हिंदुओं द्वारा बोली जाती है और उर्दू मुसलमानों के साथ-साथ फारसीदाँ हिंदुओं द्वारा। हिन्दी में संस्कृत की शब्दावली और मुहावरों की प्रचुरता है और उर्दू में अरबी-फारसी शब्दों और मुहावरों की। यह नहीं कहा जा सकता कि उर्दू शब्दों और मुहावरों के बिना हिन्दी

---

[11] तलवार, वीर भारत, *रस्साकशी,* वाणी प्रकाशन, पृ. 56

जीवित नहीं रह सकती, और वे ऐसी किसी भी भाषा शैली को हिन्दी का नाम देने के लिए तैयार नहीं थे जिसमें अभिव्यक्ति की ऐसी विदेशी शैली की भरमार हो।"[12]

शिवप्रसाद सितारे हिन्द हिन्दी और उर्दू को अलग-अलग भाषाएं नहीं मानते थे। उनके लिए यह सिर्फ लिपि का सवाल था। पर कई हिन्दी आलोचक इसी मेमोरेंडम से हिन्दी आंदोलन की शुरुआत मानते हैं। उनके अनुसार इसी मेमोरेंडम ने पहली बार नागरी को हिंदुओं से और फारसी को मुसलमानों से जोड़ने का काम किया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी शुरू में उर्दू शब्दों के प्रयोग से परहेज नहीं करते थे। *हिन्दी भाषा* नामक लेख में भारतेन्दु का मानना था "हमें अपनी देशी भाषा को समृद्ध करने के लिए कहीं से भी शब्द लेने में संकोच नहीं करना चाहिए। अपनी भाषा को समृद्ध करने के लिए जिस किसी खजाने से हो सके शब्द लिए जाएं।"[13]

वसुधा डालमिया का भी यही विचार है कि भारतेन्दु को यह मानने और कहने में कोई संकोच नहीं था कि हिन्दी और उर्दू अनिवार्यतः एक ही भाषा है जो बहुसंख्यक जनता द्वारा बोली जाती है परंतु आगे चलकर भारतेन्दु की भाषा नीति बदल जाती है वह शिवप्रसाद सितारे हिन्द का विरोध करना शुरू कर देते हैं और वह हिन्दी और उर्दू को दो अलग-अलग भाषाएं सिद्ध करने की राह पर चल पड़ते हैं। भारतेन्दु के यहां हिन्दी में अरबी-फारसी शब्दों की जगह संस्कृत के शब्दों को भरने का अति आग्रह दिखने लगता है। वसुधा डालमिया और डॉ. वीर भारत तलवार दोनों ने भारतेन्दु की भाषा नीति के बदलावों को चिन्हित किया है। भाषा को अलग-अलग दर्शाने का यह प्रयास हिन्दी और उर्दू दोनों पक्ष के लेखकों के यहाँ दिखता है।

फ्रेंचेस्का ऑरसिनी ने लिखा है "19वीं सदी के अंतिम दिनों में चल रहा हिन्दी-उर्दू विवाद पुराने नौकरी पेशा वाले भद्र वर्ग और नए समुदाय के बीच नौकरी और रुतबे के लिए होने वाली प्रतिस्पर्धा मात्र नहीं था, बल्कि यह अपनी सांस्कृतिक पहचान सुनिश्चित करने के लिए चल रहा संघर्ष भी था, जिसमें नए-नए सांस्कृतिक प्रतीक गढ़े जा रहे थे।"[14]

ईसाई मिशनरियों के अनुवादों का भाषाई स्वरूप

डॉ. वीर भारत तलवार ने *रस्साकशी* में यह तर्क दिया है कि संस्कृत और फारसी दोनों भाषाओं को अलगाने का काम सबसे पहले ईसाई मिशनरियों द्वारा किया गया, जिनका उद्देश्य ईसाई

---

[12] ऑर्सीनी, फ्रांचेस्का, *हिन्दी का लोकवृत्त,* पृ. 45

[13] वर्मा, अमिष, *उन्नीसवीं सदी का हिन्दी नवजागरण बनाम हिन्दी-उर्दू की रस्साकशी,* हिन्दी समय से दिनांक 24.10.2021 को उद्धृत

[14] वही

धर्म का प्रचार-प्रसार करना और हिंदुओं तथा मुसलमानों में भाषाई मतभेद पैदा करना था। पर इस विषय पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में बहुत पहले लिख दिया था कि "संवत १८६० के लगभग हिन्दी गद्य की जो प्रतिष्ठा हुई उसका उस समय यदि किसी ने लाभ उठाया तो ईसाई धर्म प्रचारकों ने, जिन्हें अपने मत को साधारण जनता के बीच फैलाना था। सिरामपुर उस समय पादरियों का प्रधान अड्डा था। विलियम केरे तथा और कई अँगरेज पादरियों के उद्योग से इंजील का अनुवाद उत्तर भारत की कई भाषाओं में हुआ। कहा जाता है कि बाइबिल का हिन्दी अनुवाद स्वयं केरे साहब ने किया। संवत १८६६ में उन्होंने 'नए धर्म नियम' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया और संवत १८७५ में समग्र ईसाई धर्म पुस्तक का अनुवाद पूरा हुआ। इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि इन अनुवादकों ने सदासुख और लल्लूलाल की विशुद्ध भाषा को ही आदर्श माना, उर्दूपन को बिल्कुल दूर रखा, इससे यही सूचित होता है कि फारसी-अरबी मिली भाषा से साधारण जनता का लगाव नहीं था जिसके बीच मत का प्रचार करना था। जिस भाषा में साधारण हिंदू जनता अपने कथा-पुराण कहती सुनती आती थी उसी भाषा का अवलंबन ईसाई उपदेशों को अवश्य दिखाई पड़ा।... पादरियों ने जिस शिष्ट भाषा में जनसाधारण को धर्म और ज्ञान आदि के उपदेश सुनते-सुनाते पाया उसी को ग्रहण किया। ईसाईयों ने अपनी धर्मपुस्तक के अनुवाद की भाषा में फारसी और अरबी के शब्द जहाँ तक हो सका है नहीं लिये हैं और ठेठ ग्रामीण शब्द तक बेधड़क रखे गए हैं।"[15]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जनसामान्य में पहले से ही भाषा के उस स्वरूप का चलन स्वीकार करते हैं जिसमें अरबी-फारसी शब्दों का अधिक प्रयोग नहीं होता था। परवर्ती रचनाकारों की कृतियों में भाषा के इसी स्वरूप को स्वीकार किया गया और संस्कृतनिष्ठ शब्दावली का प्रयोग बढ़ता गया।

राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द के अनुवादों की भाषा-नीति

बनारस अखबार के प्रसंग में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है "हिन्दी के नाम से नागरी अक्षरों में उर्दू लिखी जाने लगी थी।"[16] शुक्ल जी ने लिखा है कि जब राजा शिवप्रसाद शिक्षा विभाग में इंस्पेक्टर के पद पर नियुक्त हुए तो उन्हें हिन्दी की रक्षा के लिए बड़ी मुश्किल का सामना करना पड़ा। हिन्दी का सवाल जब आता तो मुसलमान उसे

---

[15] शुक्ल, रामचन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृ. 291

[16] वही, पृ. 300

मुश्किल जबान कहकर इसका विरोध करते थे, अतः राजा साहब ने ठेठ हिन्दी का आश्रय लेने का निश्चय किया जिसमें कुछ फारसी अरबी के चलते शब्द भी आएं। हिन्दी में उस समय पाठ्यक्रम के लिए साहित्य की पुस्तकें नहीं थी इसलिए राजा साहब स्वयं तो पुस्तकें तैयार करने के काम में लगे ही उन्होंने अपने मित्रों पंडित श्रीलाल और बंशीधर आदि को भी इस काम में लगा दिया। उनकी *राजा भोज का सपना*, *वीर सिंह का वृतांत* और *आलसियों को कोड़ा* आदि प्रारम्भिक पुस्तकें बहुत ही चलती सरल हिन्दी में थी। इनमें वह उर्दूपन नहीं था जो बाद में *इतिहासतिमिरनाशक* आदि में आया। *मानवधर्म सार* की भाषा अधिक संस्कृतनिष्ठ है। "प्रारंभ काल से ही वे ऐसी चलती ठेठ हिन्दी के पक्षपाती थे जिसमें सर्वसाधारण के बीच प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों का भी स्वच्छंद प्रयोग हो। यद्यपि अपने 'गुटका' में जो साहित्य की पाठ्यपुस्तक थी उन्होंने थोड़ी संस्कृत मिली ठेठ और सरल भाषा का ही आदर्श बनाए रखा, पर संवत १९१७ के पीछे उनका झुकाव उर्दू की ओर होने लगा जो बराबर बना क्या रहा, कुछ न कुछ बढ़ता ही गया।...संवत १९१७ के उपरांत जो इतिहास, भूगोल आदि की पुस्तकें राजा साहब ने लिखीं उनकी भाषा बिल्कुल उर्दूपन लिए है। 'इतिहासतिमिरनाशक' भाग-२ की अँगरेजी भूमिका में, जो संवत १८६४ की लिखी है राजा साहब ने साफ लिखा है कि मैंने 'बेताल पचीसी' की भाषा का अनुकरण किया है।"[17]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार "बैताल-पचीसी की भाषा बिल्कुल उर्दू है।"[18] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल राजा शिवप्रसाद के बाद के लेखन में प्रयुक्त भाषा को 'देश की संस्कृति और परंपरा से कटी हुई भाषा' कहते हैं। उनके अनुसार किसी देश के साहित्य का संबंध उस देश की संस्कृति और परंपरा से होता है अतः साहित्य की भाषा संस्कृति का त्याग करके नहीं चल सकती है।

साहित्यिक अनुवादों के अतिरिक्त राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी में कई पारिभाषिक शब्दों का अनुवाद किया। उन्होंने "न सिर्फ शिक्षा का माध्यम हिन्दी को बनवाया बल्कि हिन्दी में शिक्षा दी जा सके, इसका भी पूरा इंतजाम कर दिखाया। ज्ञान-विज्ञान के आधुनिक विषयों जैसे भूगोल, इतिहास, पदार्थविज्ञान वगैरह पर पहली बार आसान मुहावरेदार हिन्दी में

---

[17] वही, पृ. 301

[18] वही, पृ. 301

पाठ्यपुस्तकें तैयार की गई। इन विषयों के विवेचन के लिए उस वक्त हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली नहीं थी। राजा शिवप्रसाद ने अपनी बनाई पाठ्यपुस्तकों में पहली बार अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया, जैसे- मानचित्र (नक्शा), अनुक्रमणिका (इंडेक्स), आधार (बेस) अथवा न्यूनकोण, समकोण और समबाहु त्रिभुज इत्यादि। ये पारिभाषिक शब्द तब से लेकर आज तक हिन्दी में उसी तरह चले आ रहे हैं और इनका विकल्प ढूँढ़ने की कभी जरूरत नहीं पड़ी। विडंबना देखिए कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में शिवप्रसाद को हिन्दी समर्थक के रूप में उतना याद नहीं किया जाता जितना हिन्दी-विरोधी के रूप में।"[19]

राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी की कठिन भाषा की छवि को दूर करने के लिए निरंतर प्रयास किया। उनके अनुवादों की भाषा में अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग उसी अनुपात में दिखता है जिस अनुपात में ये जनसामान्य की भाषा में प्रयुक्त होते थे। उन्होंने आम जन की बोलचाल की भाषा को ही अपनी भाषा का आदर्श बनाया।

राजा लक्ष्मण सिंह के हिन्दी अनुवादों की भाषा-नीति

राजा लक्ष्मण सिंह ने संवत 1919 में कालिदास के नाटक *अभिज्ञान शाकुंतलम* का हिन्दी अनुवाद किया था। इस नाटक के अनुवाद में राजा लक्ष्मण सिंह ने सरस और विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग किया और अरबी-फारसी के शब्दों से परहेज किया। इस अनुवाद का उल्लेख प्रायः आरंभिक हिन्दी अनुवादों की आदर्श भाषा के रूप में किया जाता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा को 'असली हिन्दी का नमूना' कहा। *शकुंतला* नाटक की भाषा की प्रशंसा फ्रेडरिक पिंकाट ने भी की थी और इसका एक परिचय भी लिखा था। राजा शिवप्रसाद ने साहित्य की *गुटका* नाम से जो पाठ्यपुस्तक तैयार कराई थी, उसमें भी उन्होंने *राजा भोज का सपना* और *रानी केतकी की कहानी* के साथ राजा लक्ष्मण सिंह के *शकुंतला* नाटक का बहुत सारा अंश रखा था। राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा का एक उदाहरण नीचे दिया गया है:

"अनुसूया- (हौले प्रियंवदा से) सखी! मैं भी इस सोच-विचार में हूं। अब इससे कुछ पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहां पधारे

---

19 तलवार, वीर भारत, *रस्साकशी,* वाणी प्रकाशन, पृ. 53

हो? क्या कारण है? जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है?"[20]

रघुवंश के गद्यानुवाद के प्राक्कथन में राजा लक्ष्मण सिंह ने हिन्दी और उर्दू भाषा के विचार में अपना मत अभिव्यक्त किया है। उन्होंने लिखा है, "हमारे मत में हिन्दी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी हैं। हिन्दी इस देश के हिंदू बोलते हैं और उर्दू यहां के मुसलमान और पारसी पढ़े हुए हिंदुओं की बोलचाल है। हिन्दी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं, उर्दू में अरबी-पारसी के। परंतु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी-पारसी के शब्दों के बिना हिन्दी न बोली जाए और न हम उस भाषा को हिन्दी कहते हैं जिसमें अरबी-पारसी के शब्द भरे हों।"[21]

बांग्ला और मराठी भाषाओं से होने वाले अनुवादों में संस्कृत की पदावली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होना स्वाभाविक था। इसका कारण बांग्ला और मराठी की संस्कृत से निकटता है। अनुवादों के अभ्यास से हिन्दी में अरबी और फारसी के शब्दों का प्रयोग स्वतः ही कम हो गया था। शुक्ल जी ने लिखा है "जबकि बंगला, मराठी आदि अन्य देशी भाषाओं का गद्य परंपरागत संस्कृत पदावली का आश्रय लेता हुआ चल पड़ा था तब हिन्दी गद्य उर्दू के झमेले में पड़कर कब तक रुका रहता? सामान्य संबंध सूत्र को त्यागकर दूसरी देशी भाषाओं से अपना नाता हिन्दी कैसे तोड़ सकती थी? उनकी सगी बहन होकर एक अजनबी के रूप में उनके साथ वह कैसे चल सकती थी। जबकि यूनानी और लैटिन के शब्द यूरोप के भिन्न-भिन्न मूलों से निकली हुई देशी भाषाओं के बीच एक प्रकार का साहित्यिक संबंध बनाए हुए हैं तब एक ही मूल से निकली हुई आर्य भाषाओं के बीच उस मूल भाषा के साहित्यिक शब्दों की परंपरा यदि संबंधसूत्र के रूप में चली आ रही है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है।"[22]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अनुवादों की भाषा-नीति

अपने लेखन के प्रारम्भ में भारतेन्दु की भाषा का आदर्श राजा शिवप्रसाद की भाषा के निकट था। भारतेन्दु जन-सामान्य में प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोग के पक्षधर थे। इस संबंध में भारतेन्दु के विचारों को उनके *हिन्दी भाषा* लेख में देखा जा सकता है। पर भारतेन्दु के अनुवादों एवं मौलिक लेखन की भाषा में हिन्दी आन्दोलन के उभार के बाद परिवर्तन दिखाई

---

[20] शुक्ल, रामचन्द्र, *हिन्दी साहित्य का इतिहास,* पृ. 302

[21] वही, पृ. 303

[22] वही, पृ. 307

देता है। इस परिवर्तन को डॉ. वीर भारत तलवार ने अपनी पुस्तक *रस्साकशी* में रेखांकित किया है। अपने परवर्ती लेखन में भारतेन्दु संस्कृतनिष्ठ शब्दावली के प्रयोग के प्रति आग्रही दिखते हैं। डॉ. वीर भारत तलवार ने लिखा है "बनारस से भारतेन्दु के दोस्त बालेश्वर प्रसाद *काशी पत्रिका* निकालते थे। इसमें भारतेन्दु का *सत्य हरिश्चन्द्र* नाटक छपा था। बालेश्वर प्रसाद डिप्टी कलक्टर बन गए तो पत्रिका का संपादन क्वींस कॉलेज में गणित और विज्ञान के प्रोफेसर पंडित लक्ष्मी शंकर मिश्र के हाथ में आया।...उन्होंने पत्रिका की भाषा में हिन्दी-उर्दू के बीच खाई कम करने की नीति चलाई। रायकृष्णदास के मुताबिक उर्दू का पलड़ा भारी रखा गया। उन्हीं दिनों पत्रिका में *मर्चेंट ऑफ वेनिस* का भारतेन्दु का किया अनुवाद *वेनिस का सौदागर* किस्तों में छप रहा था। पत्रिका की भाषा नीति से बौखला कर भारतेन्दु ने अपनी प्रतिक्रिया अनूठे ढंग से की। उधर अनुवाद छप रहा था, इधर अपने पासवाली पांडुलिपि में पात्रों का भारतीयकरण और भाषा का हिन्दीकरण अपनी प्रिय बैंजनी स्याही में करने लगे। जब तक पत्रिका में *वेनिस का सौदागर* पूरा हुआ भारतेन्दु ने बदले हुए रूप में उसे *दुर्लभ बंधु* के नाम से 1880 में छाप दिया। रायकृष्णदास ने पत्रिका के छपे अनुवाद से पुस्तक में छपी भाषा का फर्क दिखाने के लिए एक ही अंश को दोनों जगहों से उद्धृत किया :

***काशी* पत्रिका में**	**पुस्तक के रूप में**
शाइलेक	शैलाक्ष
मतलब	अभिप्राय
हालत नाजुक	दशाहीन
ट्रिपोलिस	त्रिपुल
मेक्सिको	मौक्षिक
आदमी	मनुष्य
यानी डाकुओं का डर सभी जगह है	डाकुओं का भय सभी स्थल में है
छ हजार मुद्रा	छ सहस्र मुद्रा

रायकृष्णदास ने इस भाषाई परिवर्तन को *काशी* पत्रिका की उर्दूपरस्त नीति की प्रतिक्रिया बताया।"[23] पर वीर भारत तलवार अन्य जगहों से भी इस तरह का उदाहरण देते हुए भारतेन्दु के इस प्रयास को असंगत ठहराते हैं, और उन पर 'अरबी-फारसी शब्दों के सफाया करने' का

[23] तलवार, वीर भारत, *रस्साकशी,* पृ. 79-80

आरोप लगते हैं। वीर भारत तलवार लिखते हैं, "भाषा गढ़ने की ऐसी प्रवृत्ति के कारण ही भारतेन्दु ने 19वीं सदी के जनवादी अंग्रेज कोशकार फैलन के हिन्दी शब्दकोश को- जिसमें बनारस के कूचे-गलियों और धूल-माटी से जीवंत शब्दों को उठाया गया था-शिक्षा विभाग के पैसों से छापने लायक नहीं समझा।...रामविलास शर्मा ने जनवादी नजरिए और जानदार भाषा के लिए फैलन को हाथोंहाथ लिया है।"[24]

बांग्ला और संस्कृत से किए गए हिन्दी अनुवादों में भी भारतेन्दु ने अरबी और फारसी के शब्दों का निषेध किया। हालांकि, संस्कृत एवं बांग्ला से किए जाने वाले अनुवादों में भारतेन्दु के पास भाषाई आदर्श चुनने की पर्याप्त गुंजाइश नहीं थी, क्योंकि इन भाषाओं की पदावली संस्कृत के अधिक नजदीक है। उन्नीसवीं सदी के हिन्दी अनुवादों में मूल प्रश्न हिन्दी भाषा की शब्द-संपदा और स्वरूप विस्तार का था। इस लक्ष्य को साधने के क्रम में सभी अनुवादकों एवं साहित्यकारों ने कई प्रयोग किए। अनुवादों की भाषा में संस्कृत शब्दों का अतिरेक, अतिशय उर्दूपन अथवा फारसी शब्दों का निषेध इसी प्रयोग के परिणाम के रूप में देखा जाना चाहिए। साहित्यकारों एवं हिन्दी प्रेमियों ने इसमें अपनी-अपनी तरह से महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। हिन्दी नवजागरण में स्वदेशी पर अत्यधिक ज़ोर दिया जा रहा था। इस कारण हिन्दी अनुवादों में प्राचीन साहित्य की भाषा संस्कृत के शब्दों का आधिक्य स्वाभाविक था। इतिहास के उस विशेष काल-खंड में 'स्वत्व' पर दिया जाने वाला बल आगे चलकर पुनरुत्थानवाद में परिणत हो गया और भाषा के सवाल ने धार्मिक रंग ले लिया। इस संदर्भ में यह याद रखना होगा कि उन्नीसवीं सदी के हिन्दी आन्दोलन ने ही हिन्दी भाषा की विचार-प्रणाली एवं ज्ञान-परंपरा का विस्तार किया तथा हिन्दी लोकवृत्त के विकास का मार्ग प्रशस्त किया जिसमें अनुवाद की ऐतिहासिक भूमिका रही।

भारतेन्दु युग के हिन्दी अनुवादों की राष्ट्रीय चेतना

भारतेन्दु युग में हिन्दी साहित्य को नया रूप देकर इसे जन-जीवन से संपृक्त किया गया और नवीन विषयों की ओर प्रवृत्त कर साहित्य को नई दिशा दी गई। इस कार्य में सबसे अग्रणी रहने के कारण भारतेन्दु को युग निर्माता साहित्यकार कहा गया। भारतेन्दु की प्रेरणा से ही इस युग में संस्कृत, बांग्ला, मराठी और अंग्रेजी के विभिन्न ग्रंथों का हिन्दी में अनुवाद हुआ। "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने दो मुख्य नारे दिए थे-

---

[24] वही, पृ. 80

(1) स्वत्व निज भारत गहै; और

(2) निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल।"[25]

साहित्य की सभी विधाओं में नाटक को समाज के सबसे निकट माना जाता है, इसलिए भारतेन्दु युग में देश की सामाजिक दशा और राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति नाटकों में ही सबसे अधिक हुई। मौलिक एवं अनूदित दोनों प्रकार के नाटकों में सचेत रुप से समाज को देश की दशा का बोध कराने का प्रयास किया गया। हिन्दी अनुवाद के लिए नाटकों का चयन करते समय उन नाटकों को विशेष रूप से चुना गया जिनसे जन-जागृति का भाव मजबूत किया जा सके। भारतेन्दु युग के हिन्दी अनुवादों में अभिव्यक्त राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप इन अनुवादों के युगीन विश्लेषण से ही समझा जा सकता है। भारतीय नवजागरण महाराष्ट्र और बंगाल से प्रत्यक्ष रूप से जुड़ा था। इसलिए यदि इस युग में बांग्ला और मराठी भाषाओं से अधिक अनुवाद हुआ तो इसे हिन्दी नवजागरण को भारतीय नवजागरण की मूल धारा से जोड़ने का प्रयास समझा जाना चाहिए। संस्कृत से हुए अनुवादों में समाज को भारत के अतीत के गौरव का बोध कराने की मंशा निहित थी।

"भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ऐसे साहित्यकार नहीं थे कि मात्र पुस्तकें लिखने और छापने से ही उन्हें संतुष्टि मिल जाती। लोकोपकार और देशहित के अनेक माध्यमों में वे साहित्य को भी एक माध्यम मानते थे। इसीलिए उन्होंने समाज की उन्नति, भाषा की उन्नति, साहित्य की उन्नति आदि के लिए एक साथ कार्य किया। शिक्षा व्यवस्था, बालिकाओं की शिक्षा, विधवा विवाह, हिन्दी भाषा के स्वरूप, जीवन में धर्म की भूमिका, राजभक्ति, देशभक्ति आदि के लिए उनकी प्रशंसा और आलोचना करने से पूर्व हमें तत्कालीन परिस्थिति और उसमें किसी एक व्यक्ति की सीमा का भी ध्यान रखना चाहिए।"[26] भारतेन्दु युग के अनुवादों में राष्ट्रीय चेतना की सर्वाधिक प्रखर अभिव्यक्ति भारतेन्दु द्वारा अनूदित नाटकों में ही हुई है, इसलिए भारतेन्दु के अनूदित नाटकों के विश्लेषण के माध्यम से ही इस युग के अनुवादों में व्यक्त राष्ट्रीय चेतना के स्वरूप का अध्ययन किया जा सकता है।

प्रो. ओमप्रकाश सिंह ने *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली-1* में भारतेन्दु के मौलिक नाटकों की संख्या दस मानी है। इस ग्रंथावली में उन्होंने *भारत जननी* को भी मौलिक नाटकों में शामिल कर लिया है। पर *भारत जननी* भारतेन्दु का मौलिक नाटक नहीं है। "मौलिक नाटकों की रचना के

---

[25] सिंह, ओमप्रकाश, *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली-1 [नाटक निबन्ध और मौलिक नाटक],* पृ. xvii-xviii

[26] वही, पृ. xv

साथ-साथ भारतेन्दु ने अनेक भाषाओं से नाटकों का अनुवाद किया था। कुछ नाटकों का उन्होंने संशोधन-परिवर्द्धन भी किया था। कहने का आशय यह कि इन नाटकों का रचनाकार कोई और था पर संशोधन-परिवर्द्धन भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया। ऐसे नाटक भी उनके नाम से छप गए। 'भारत जननी' ऐसा ही नाटक है। विद्या सुंदर, रत्नावली, पाखंड विडंबन, धनंजय विजय, मुद्राराक्षस, दुर्लभ बन्धु और कर्पूर मंजरी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अनूदित नाटक हैं।"[27] कुछ विद्वान *सत्य हरिश्चन्द्र* को भी अनूदित कृति मानते हैं। पर *सत्य हरिश्चन्द्र* भारतेन्दु का मौलिक नाटक है।

विद्यासुन्दर

भारतेन्दु ने यह अनुवाद सन् 1868 में किया था। "चौर कवि कृत 'चौरपंचाशिका'को भारतचन्द्रराय ने कविता में प्रस्तुत किया था। भारतचन्द्र राय के काव्य के आधार पर यतीन्द्रमोहन ठाकुर ने बंगभाषा में 'विद्यासुन्दर' नाटक बनाया था। भारतेन्दु ने इसी नाटक का अनुवाद किया है।"[28]

विद्यासुन्दर एक लोक-कथा है। इस कृति में एक लोक-कथा की सभी विशेषताएं देखी जा सकती हैं। रोमानी लोक-कथाएँ प्रेमाख्यानक परम्परा के अनुरूप ही लिखी गईं। *विद्यासुन्दर* का विकास भी इसी धारा से हुआ। बांग्ला में इसकी एक सुव्यवस्थित परम्परा दिखती है। विद्या वर्द्धमान नगर के राजा की पुत्री है जो सर्वगुण-सम्पन्न और विदुषी है। उसने प्रतिज्ञा ली है कि जो पुरुष उसे शास्त्रार्थ में पराजित करेगा वह उसी का वरण करेगी। अनेक राजकुमार इसके लिए उद्यम करते हैं पर कोई भी उसे पराजित नहीं कर पाता है। विद्या के पिता इससे चिंतित हो जाते हैं, वे विद्या की प्रतिभा को ही दोषी मानने लगते हैं। परंतु उनके राज्य का मंत्री कांचीपुर के राजकुमार सुन्दर की प्रशंसा करते हुए उसे विद्या के लिए योग्य बताता है। आगे चलकर विद्या एवं सुंदर में प्रेम विवाह हो जाता है और कथानक का विकास होता है।

---

[27] वही, पृ. xix

[28] सिंह, ओमप्रकाश, *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली-2 [नाटक (अनूदित), संवाद, श्री रामलीला और चरितावली],* पृ. 39

यह नाटक युग-धर्म को ध्यान में रखकर अनूदित किया गया है। उन्नीसवीं शताब्दी का भारतीय समाज परंपरागत रूढ़ियों से बंधा हुआ समाज था, जिसमें आधुनिक भावबोध का संचार करना आवश्यक था। भारतेन्दु इस नाटक के अनुवाद के माध्यम से विवाह के परंपरागत स्वरूप पर प्रश्न करते हैं और गन्धर्व विवाह की प्रतिष्ठा करते हैं। विद्या और सुन्दर एक नवीन सामाजिक व्यवस्था के प्रतीक हैं जो आधुनिक युग में आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए प्रयत्नशील हैं। साथ ही, यह अनुवाद स्त्रियों के स्वतंत्र दृष्टिकोण का भी संदेश देता है। भारतेन्दु ने अपने युग की पुरातन रूढ़िवादी धारणाओं का हमेशा विरोध किया था। इस नाटक के माध्यम से वे यह भी दर्शाना चाह रहे थे कि उच्च कुल में जन्म लेने मात्र से कोई व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से महान नहीं बन जाता है।

पाखण्ड-विडम्बन

भारतेन्दु ने संवत् 1929 में कवि कृष्ण के संस्कृत *प्रबोधचन्द्रोदय* नाटक के तीसरे अंक का *पाखण्ड-विडम्बन* नाम से अनुवाद किया। इस अनुवाद को लेकर पुस्तक के समर्पण में भारतेन्दु का मन्तव्य स्पष्टतः। भारतेन्दु लिखते हैं, "मेरे प्यारे! भला, इससे पाखंड का विडंबन क्या होना है? यहां तो तुम्हारे सिवा सभी पाखंड हैं, क्या हिंदू क्या जैन? क्योंकि मैं पूछता हूं कि बिना तुमको पाये मन की प्रवृत्ति ही क्यौं है, तुम्हैं छोड़कर मेरे जान सभी झूठे हैं, चाहे ईश्वर हो चाहे ब्रह्म, चाहे वेद हो चाहे इंजील, तो इससे यह शंका न करना कि मैंने किसी मत की निंदा के हेतु यह उल्था किया है।"[29]

पाखण्ड-विडम्बन नाटक दो सखियों शांति और करूणा की कहानी है। शांति अपनी मां श्रद्धा के वियोग में दुखी है। करूणा द्वारा शान्ति को सान्त्वना दी जाती है और वह उसे तीर्थ स्थानों, जंगलों, कुटियों तथा मन्दिरों में अपनी मां को ढूँढने के लिए कहती है। जब शान्ति श्रद्धा को खोजने के लिए करूणा के साथ निकलती है तब मार्ग में उन्हें विचित्र वेश में डरावनी सूरत वाला दिगम्बर मिलता है। श्रद्धा भी दिगंबर के साथ इसी डरावने भेष में दिखती है। यह देखकर शान्ति दुखी हो जाती है, तब करूणा उसे समझाती है कि तुम्हारी माँ तो सतोगुणी

---

[29] वही, पृ. 53

श्रद्धा है जिसे तुमने देखा वह तो तमोगुणी है। इसके बाद दोनों सतोगुणी श्रद्धा की खोज करते हुए बौद्ध भिक्षुओं के घर पहुँचती हैं। वे देखती हैं कि भिक्षुक बुद्धागम के हाथ में पोथी है और श्रद्धा उसके पास भिक्षुकी बनकर आती है। शान्ति करूणा से कहती है कि यह तामसी श्रद्धा होगी। इसके बाद अपने-अपने धर्म को श्रेष्ठ सिद्ध करने के लिए भिक्षुक और दिगम्बर में तर्क-वितर्क होने लगता है। कापालिक सोमसिद्धान्त भी इस वाद-विवाद में शामिल हो जाता है। कापालिक अपने धर्म को श्रेष्ठ बताता है। दिगम्बर और कापालिक में अपने-अपने धर्म को लेकर विवाद हो जाता है तथा कापालिक दिगम्बर पर तलवार से वार करने के लिए आगे बढ़ता है। पर भिक्षुक द्वारा इस विवाद को सुलझा दिया जाता है। कापालिक और दिगम्बर में पुनः मोक्ष सुख को लेकर तर्क होता है। श्रद्धा कापालिक की आज्ञा से भिक्षुक तथा दिगम्बर दोनों का आलिंगन करती है। दिगम्बर धर्म की बेटी श्रद्धा को पकड़ना चाहता है। कापालिक द्वारा धर्म का पता पूछे जाने पर दिगम्बर यह दोहा पढ़ता है :

"नहिं जल-थल पातान मैं, गिरवर हूँ मैं नाहिं।
कृष्णभक्ति के संग वह, बसत साधु-चित माहिं।।"[30]

दिगम्बर कापालिक को बताता है कि धर्म की बेटी श्रद्धा श्रीकृष्ण की महारानी भक्ति के साथ है। महा-भैरवी विद्या का प्रयोग करके कापालिक धर्म और श्रद्धा दोनों को खींचना चाहता है। दोनों सखियाँ शांति और करुणा यह सारा वृत्तान्त देवी विष्णु भक्ति को बताने के लिए चली जाती हैं। यह नाटक दर्शाता है कि कलियुग के प्रभाव से लोगों के जीवन में सतोगुण का अभाव है और रजोगुण तथा तमोगुण की प्रधानता है। नाटक में इसी का चित्रण किया गया है। सभी धर्मों के अनुयायी अपने-अपने धर्म के मूल सिद्धान्तों की बजाए धर्म के विकृत रूप को धारण किए हैं जिसमें सिर्फ आडम्बर और पाखंड है। इस नाटक के अनुवाद के माध्यम से भारतेन्दु हिन्दी समाज को धार्मिक आडंबरों एवं पाखण्ड का बोध कराना चाह रहे थे। धर्म के मूल तत्त्व के पालन में ही लोगों का कल्याण संभव है और इसी से जीवन में शान्ति मिल सकती है। बाह्य

---

[30] वही, पृ. 64

आडंबर जीवन को तमोगुण की ओर ले जाते हैं। जिस दौर में यह नाटक अनूदित हुआ था, उस समय भारतीय समाज विभिन्न मत-मतांतरों के चक्र में फंसा हुआ था। भिक्षुक, दिगम्बर और कापालिक के बीच का वाद-विवाद यह दर्शाने का प्रयास है कि हर धर्मावलम्बी अपने धर्म को अन्य सभी धार्मिक मतों से श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहता है। अधिकांश धर्मावलंबियों को धर्म के उदात्त स्वरूप का बोध नहीं है, वे सिर्फ भोग-विलास में लिप्त हैं। यह नाटक तत्कालीन समाज को धर्म के मूल तत्त्व से विमुख करके अधर्म की ओर ले जाने वाले बाधक तत्त्वों का बोध कराता है।

भारतेन्दु ने इस नाटक को अनुवाद के लिए इसीलिए चुना होगा क्योंकि वे देख रहे थे कि कैसे यूरोप का एक छोटा सा देश ब्रिटेन अपने भौतिक ज्ञान-विज्ञान संबंधी चिंतन और प्रगति के बल पर भारत जैसे विशाल देश को गुलाम बनाकर रखा है। यह गुलामी तभी दूर हो सकती है जब भारतीय समाज धार्मिक मत-मतांतरों के मकड़जाल से मुक्त होगा। लोग धर्म के सच्चे स्वरूप को समझ सकेंगे और उनमें सामाजिक चेतना पैदा होगी।

धनंजय-विजय (व्यायोग)

धनंजय-विजय (व्यायोग) "कविकांचन कृत संस्कृत नाटक 'धनंजय विजय'का अनुवाद"[31] है। भारतेन्दु ने यह अनुवाद सन् 1874 में किया था। यह नाटक महाभारत के प्रसिद्ध कथानक पर आधारित है जब महाराजा विराट के यहाँ अज्ञातवास के आखिरी समय में अर्जुन ने अकेले ही कौरवों से युद्ध करके उन्हें परास्त कर दिया और राजा विराट के गोधन को कौरवों से छुड़ाया। यह नाटक इसी प्रसंग को लेकर लिखा गया है। नाटक के भरत वाक्य में लेखक ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए दो बातों का विशेष रूप से समावेश किया है। इनमें से एक है अपने विद्या-कौशल में निपुणता प्राप्त करना तथा दूसरा राज कर से मुक्ति मिलना। भारतेन्दु का विश्वास था कि जन-जीवन के विकास के लिए यह दोनों बातें अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

इस अनुवाद के माध्यम से भारतेन्दु ने महाभारत के प्रसिद्ध कथानक को आधुनिक संदर्भों में प्रस्तुत किया। नाटक का संदेश है कि अपने उद्देश्य की प्राप्ति में किसी प्रकार का संदेह नहीं करना चाहिए और अपने पुरुषार्थ पर पूरा भरोसा रखना चाहिए। अर्जुन का चरित्र यही सीख देता है। इस नाटक के माध्यम से भारतेन्दु ने पराधीनता के दौर में निरुत्साह एवं निरुद्देश्य

---

[31] वही, पृ. 90

हिन्दी समाज में नया आत्मविश्वास भरने का उद्यम किया और इसके लिए उन्होंने भारतीय संस्कृति के एक बहुप्रचलित प्राचीन कथानक को आधार बनाया।

मुद्राराक्षस

मुद्राराक्षस विशाखदत्त के संस्कृत नाटक का अनुवाद है। यह अनुवाद भारतेन्दु ने सन् 1875 में किया। इस अनुवाद के प्रारम्भिक अंश सन् 1875 से 1877 के दौरान *बालाबोधिनी* पत्रिका में प्रकाशित हुए। भारतेन्दु को *मुद्राराक्षस* का अनुवाद करने के लिए राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने प्रेरणा दी थी, इसीलिए भारतेन्दु का यह अनुवाद राजा शिवप्रसाद को समर्पित है। यह नाटक उस दौर में अत्यंत लोकप्रिय हुआ था और राजा शिवप्रसाद ने इसे साहित्य की पाठ्यपुस्तकों में भी जगह दिलाई थी। लंबे अरसे तक *मुद्राराक्षस* पाठ्यक्रम की पुस्तकों में शामिल रहा। इस अनुवाद तक आते-आते भारतेन्दु की भाषा अत्यंत प्रौढ़ एवं असरदार हो गई थी, क्योंकि अब तक भारतेन्दु कई कृतियों का अनुवाद कर चुके थे।

मुद्राराक्षस एक ऐतिहासिक और राजनीतिक नाटक है तथा यह संस्कृत साहित्य में अपने तरह का अकेला उदाहरण है। इस अनुवाद के उपसंहार में भारतेन्दु ने लिखा है, "इस नाटक के विषय में विलसन साहिब लिखते हैं कि यह नाटक और नाटकों से अति विचित्र है, क्यौंकि इसमें सम्पूर्ण राजनीति के व्यवहारों का वर्णन है। चन्द्रगुप्त (जो यूनानी लोगों का सैंदोकोत्तस Sandracotus है) और पाटलिपुत्र (जो यूरप की पालीबोत्तरा Palibothra है) के वर्णन का ऐतिहासिक नाटक होने के कारण यह विशेष दृष्टि देने के योग्य है।"[32] नाटक की ऐतिहासिक विषय-वस्तु पर प्रकाश डालते हुए भारतेन्दु ने नाटक के प्रारंभ में चाणक्य, महानंद एवं राक्षस जैसे पात्रों पर विचार किया है और नाटक के समापन पर इसकी ऐतिहासिकता के विषय में एक अनुसंधानपरक सामग्री भी प्रस्तुत की है। यह नाटक लिखने की एक नई शैली थी, जिसका प्रभाव आगे चलकर छायावादी युग में जयशंकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों पर भी दिखता है। नाटक के आरंभ में चाणक्य राक्षस के चारों ओर अपने गुप्तचरों का जाल बिछाता दिखाई

---

[32] वही, पृ. 192

देता है। योगी के वेश में एक गुप्तचर चाणक्य को राक्षस की मुद्रा और महत्त्वपूर्ण सूचनाएं देता है। राक्षस की इसी मुद्रा के नाम पर नाटक का नाम *मुद्राराक्षस* रखा गया है।

मुद्राराक्षस अनुवाद भारतेन्दु द्वारा हिन्दी समाज में राजनीतिक चेतना को बढ़ावा देने का प्रयास है। पराधीनता के दौर में 'ब्रिटिश श्रेष्ठता' की भावना भारतीय लोगों के मन में बहुत अंदर तक बैठ गई थी। लोग ब्रिटिश अधिकारियों और शासकों को श्रेष्ठ मानने लगे थे। उन्हें लगता था कि ब्रिटेन हर मामले में भारत से आगे है। भारतीय अपने देश की राजनीति एवं शासन-प्रशासन यूरोपीय लोगों से बेहतर ढंग से नहीं चला सकते हैं। जबकि भारत का प्राचीन इतिहास इस तरह के उदाहरणों से भरा पड़ा है। समय-समय पर प्राचीन भारत में शक्तिशाली राज्यों का उत्कर्ष हुआ, शासन-व्यवस्था स्थापित हुई। चक्रवर्ती सम्राट की संकल्पना का विकास हुआ और इसके आधिपत्य में भारत के विस्तृत भू-खंड को संगठित करने का प्रयास भी किया गया। कौटिल्य के *अर्थशास्त्र* में जम्बूद्वीप की अवधारणा एवं राज्य के सप्तांग सिद्धान्त विवेचन को इस संदर्भ में देखा जा सकता है। चंद्रगुप्त मौर्य और चाणक्य भारतीय इतिहास के ऐसे ही विशिष्ट कालखंड से आते हैं जब भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने का प्रयास हुआ और 'आर्यावर्त' की अवधारणा सामने आई। स्पष्टतः इस नाटक के माध्यम से हिन्दी जाति में अपने इतिहास और संस्कृति के प्रति गौरव का भाव पैदा किया जा सकता था। भारतेन्दु ने इस अनुवाद द्वारा यही करने का प्रयास किया। उन्होंने *मुद्राराक्षस* नाटक के हिन्दी अनुवाद के माध्यम से यह दर्शाया कि भारत के लोग प्राचीन काल से ही शासन चलाने की प्रणाली और व्यवस्था से परिचित हैं। भारत को यह पश्चिम की देन नहीं है।

भारत जननी

भारत जननी बांग्ला के *भारतमाता* का हिन्दी अनुवाद है। यह अनुवाद भारतेन्दु के किसी मित्र ने किया था। "*भारत जननी* का प्रकाशन दिसंबर 1877 ई. की हरिश्चन्द्र चन्द्रिका में हुआ था। यह रचना कवि वचन सुधा में भी छपी थी। भारतेन्दु के किसी मित्र ने बंगभाषा के भारतमाता नामक रूपक का अनुवाद किया था। इसी अनुवाद का यह संशोधित प्रवर्धित रूप है। इस तथ्य को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी स्वीकार किया है। इस दृष्टि से यह उनका मौलिक नाटक नहीं है।"[33] हिन्दी आलोचना में *भारत जननी* को नाट्यगीत और ऑपेरा माना जाता रहा है। ऑपेरा

---

[33] सिंह, ओमप्रकाश, *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली-1 [नाटक निबन्ध और मौलिक नाटक],* पृ. 280

आरम्भ से अन्त तक गीतों से ही भरा होता है जबकि रूपक में कथा और गीतों की प्रधानता होती है। *भारत जननी* में गीत अधिक हैं और कथा कम है।

भारत जननी नाटक में युगीन समाज की अवनति और ब्रिटिश शासन की प्रशंसा दोनों एक साथ देखने को मिलती है। भारतेन्दु के लेखन की इस प्रवृत्ति को हिन्दी आलोचना में 'राजभक्ति के आवरण में देशभक्ति की भावना की अभिव्यक्ति' के रूप में रेखांकित किया जाता है। इस नाटक में रानी विक्टोरिया के शासन को बेहतर बताते हुए यह स्वीकार देखने को मिलता है कि रानी विक्टोरिया और अंग्रेजी राज के कारण ही भारतीय जीवित हैं। इस नाट्यगीत में भारतमाता के द्वारा महारानी विक्टोरिया की प्रशंसा की जाती है। भारत संतानों को संबोधित करती हुई भारतमाता कहती हैं, "तुम लोग अब एक बेर जगत्विख्याता, ललनाकुलकमल, कलिकाप्रकाशिका, राजनिचयपूजितपादपीठा, सरल हृदया, आर्द्रचित्ता, प्रजारंजनकारिणी, एवं दयाशीला, आर्य्य स्वामिनी, राजराजेश्वरी महारानी विक्टोरिया के चरण कमलों में अपने इस दुःख का निवेदन करो, वह अतीव कारुण्यमयी दयाशालिनी और प्रजा-शोकनाशिनी हैं।"[34]

पर रानी विक्टोरिया की प्रशस्ति के साथ-साथ इस नाट्यगीत में भारत संतानों का आह्वान भी दिखाई देता है, जब भारतमाता उनको जागृत करना चाहती हैं। "उसी भारत भूमि में अब सब हतज्ञान हो रहे हैं और कोई इनको संभालने वाला नहीं। कोई काल ऐसा था कि इस भूमि की स्त्रियां भी विद्या, संभ्रम, शौर्य, औदार्य में जगत विख्यात थीं वहां के पुरुष अब उद्यमशून्य हो केवल सूद या नौकरी पर संतोष कर के बैठे हैं। उद्योग किस चिड़िया का नाम है इस को मानो स्वप्न में भी नहीं जानते। हाय! जगत विख्यात हमारे पूर्व समय के पुत्रगण किधर गए। क्या उनकी आत्मा भी यहां नहीं है जो इस अभागिनी दुखिया माता को इस समय संबोधन दे।

कहां गए बिक्रम, भोज, राम, बलि, कर्ण, युधिष्ठिर।
चंद्रगुप्त चाणक्य कहां नासे करी करि कै थिर॥
कहां छत्री सब मरे बिनसि सब गए कितै गिर।
कहां राज को तौन साज जेहि जानत हे चिर॥

---

[34] वही, पृ. 277

कहं दुर्ग सैन धन बल गयो, धूरहि धूर दिखात जग।

उठि अजौं न मेरे वत्सगण रक्षहि आर्य मग॥"[35]

नाटक में भारतमाता राम और युधिष्ठिर से लेकर चाणक्य और चन्द्रगुप्त जैसे प्रतापी महापुरुषों का संदर्भ लाती हैं और भारत संतानों का उद्बोधन करती हैं। नाटक में प्रशस्ति का भाव कथन-प्रदर्शन के रूप में ही अधिक है।

राजभक्ति के प्रति प्रशंसा का यह भाव न केवल इस अनुवाद में है बल्कि इसे भारतेन्दु युग के लगभग सभी साहित्यकारों एवं सुधारकों में देखा जा सकता है। पर भारतेन्दु इस प्रशंसा-भाव के बीच भारत के प्राचीन गौरव का महिमामंडन करने से कभी भी विस्मृत नहीं होते हैं। भारतेन्दु के अन्य नाटकों की भाँति इस नाटक में भी भारत के प्राचीन सांस्कृतिक गौरव का निरूपण किया गया है। *भारत जननी* में भारतमाता देश की दशा से दुखी होकर रूदन करती हुई भारत के प्राचीन गौरव को याद करती हैं, "हाय हाय! क्या सचमुच हमारे पुत्रों की अब ऐसी दीन दशा हो गई है कि ये लोग कुछ भी नहीं कर सकते। अरे मेरे इसी अंक में आगे कैसे कैसे महात्मागण हुए हैं। जिनके यश सौरभ से सारी पृथ्वी आमोदित थी। इसी हमारे अंक आलबाल में कैसे पुण्य कल्पतरु हुए हैं, जिन की कीर्तिशाखा दशों दिशा में भी नहीं समा सकी। इसी हमारे अंक में कैसे लोग लालित पालित हुए हैं जिन का आज दिन समस्त संसार आदरपूर्वक नाम ग्रहण करता है, जिन्होंने अपने बुद्धि बल से मुझ को सब देश की ललनाओं का शिरोमणि कर रक्खा था।[36] इसके बाद भारतमाता कृष्ण, व्यास, कपिल, गर्ग, पतंजलि, शुकदेव, बुद्ध, मनु, भृगु जावाली, जैमिनी, दुर्वासा आदि प्रसिद्ध व्यक्तियों के नाम गिनाती हैं। नाटक एक शुभ संदेश के साथ समाप्त होता है जब दूसरा साहिब कहता है, "भारतमाता! कुछ दुःख मत करो, तुम्हारी यह शोक-रात्रि अब शीघ्र ही समाप्त होगी और सुखरूपी मार्तण्ड तुम्हारे इस मुकुलित मुखकमल को शीघ्र प्रफुल्लित करेगा।"[37]

---

[35] वही, पृ. 276

[36] वही, पृ. 276

[37] वही, पृ. 279

दुर्लभ बन्धु

भारतेन्दु ने अंग्रेजी के प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर के नाटक *मर्चेंट ऑफ वेनिस* का *दुर्लभ बन्धु* नाम से सन् 1880 में हिन्दी अनुवाद किया। "भारतेन्दु ने यह अनुवाद बंगला अनुवाद की मदद से किया था। कहा जाता है कि भारतेन्दु इस नाटक का अनुवाद पूरा न कर सके थे, कुछ अंश बाकी रह गया था, तभी उनकी मृत्यु हो गई। बाकी अंश का अनुवाद भारतेन्दु के मृत्योपरांत पंडित राम शंकर व्यास ने किया।"[38]

विलियम शेक्सपियर को इंग्लैंड में पुनर्जागरण की महान सांस्कृतिक चेतना का वाहक माना जाता है। शेक्सपियर की रचनाओं में इंग्लैंड के तत्कालीन समाज की सभ्यता, संस्कृति एवं उत्कृष्ट विचारों को अभिव्यक्ति मिली थी। शेक्सपियर का लोकप्रिय नाटक *मर्चेंट ऑफ वेनिस* दो मित्रों एंटोनियो एवं बैसेनियो की मित्रता की कहानी है। बैसेनियो बेलमांट के एक व्यापारी की पुत्री पोर्शिया से विवाह करना चाहता है। पोर्शिया को प्रभावित करने एवं उसके लिए उपहार खरीदने हेतु बैसेनियो एंटोनियो से तीन हजार ड्यूकेट्स उधार मांगता है। अपना सारा धन सामुद्रिक व्यापार में लगा देने के कारण एंटोनियो बैसेनियो की मदद नहीं कर पाता है। दोनों एक यहूदी शाइलॉक से ब्याज पर कर्ज मांगने जाते हैं। शाइलॉक कर्ज देने के लिए राजी हो जाता है। पर वह एक शर्त रखता है कि अगर निश्चित समय से पहले सारा ऋण वापस नहीं होगा तो शाइलॉक एंटोनियो के शरीर के किसी भी हिस्से से एक पाउंड मांस निकाल लेगा। एंटोनियो को भरोसा था कि उसने जो धन सामुद्रिक व्यापार में निवेश किया है, वह निश्चित समय से पहले ही उसे मिल जाएगा और वह शाइलॉक को उसका ऋण वापस कर देगा। पर एंटोनियो के जहाज समुद्र में कहीं रास्ता भटक जाते हैं और वह शाइलॉक को समय पर कर्ज वापस नहीं कर पाता है।

शाइलॉक निजी कारणों से एंटोनियो से चिढ़ा रहता है और वह शर्त के अनुसार एंटोनियो से उसके शरीर का एक पाउंड मांस लेने की बात पर अड़ जाता है। कर्ज की राशि से कई गुना अधिक धन मिलने पर भी वह शर्त से पीछे नहीं हटता है। यह मामला वेनिस के ड्यूक के पास पहुंचता है। जब इस मामले की सुनवाई होती है तब बैसेनियो की पत्नी पोर्शिया भी भेष बदलकर वहां पहुंच जाती है और वह एंटोनियो के पक्ष में तर्क रखती है। पोर्शिया शाइलॉक से एंटोनियो पर दया दिखाने का निवेदन करती है और दया तथा न्याय के पक्ष में एक प्रभावशाली

---

38 सिंह, ओमप्रकाश, *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली-2 [नाटक (अनूदित), संवाद, श्री रामलीला और चरितावली],* पृ. 292

भाषण देती है। पर शाइलॉक पर पोर्शिया की बातों का कोई असर नहीं होता है। तब पोर्शिया एक अनूठा तर्क रखती है कि शर्त के अनुसार शाइलॉक एंटोनियो के शरीर से एक पाउंड मांस का टुकड़ा काट सकता है, लेकिन ऐसा करते समय एंटोनियो के शरीर से खून की एक भी बूंद बाहर नहीं निकलनी चाहिए। शर्त के अनुसार शाइलॉक एंटोनियो के शरीर से सिर्फ एक पाउंड मांस ही ले सकता है उसमें खून लेने की बात नहीं है। इस बात से शाइलॉक घबरा जाता है और वह शर्त से पीछे हटना चाहता है। पर पोर्शिया शाइलॉक पर एंटोनियो (वेनिस के एक ईसाई) की हत्या के प्रयास का आरोप लगा देती है। ड्यूक पोर्शिया के तर्क को स्वीकार कर लेता है। शाइलॉक को सजा सुनाई जाती है कि उसका आधा धन एंटोनियो और आधा धन उसकी बेटी को दे दिया जाए। सजा के रूप में शाइलॉक को ईसाई धर्म भी स्वीकार करना पड़ता है।

शेक्सपियर ने नाटक में शाइलॉक को यहूदी तथा अन्य प्रमुख पात्रों को ईसाई दर्शाते हुए दया और न्याय को ईसाई धर्म के विशिष्ट मूल्यों के रूप में चित्रित किया है। नाटक में दिखाया गया है कि सूदखोरी की प्रथा ईसाई धर्म में गलत है। इसीलिए नाटक के अंत में ड्यूक द्वारा शाइलॉक को यहूदी धर्म छोड़कर ईसाई धर्म स्वीकार करने का फैसला सुनाया गया है।

यद्यपि इस नाटक में ईसाई धर्म के अंतर्गत मित्रता, दया और न्याय जैसे मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा की गई है, पर यह नाटक ब्रिटिश समाज की एक बुराई सूदखोरी को भी सामने लाता है। इस नाटक के अनुवाद के माध्यम से भारतेन्दु हिन्दी समाज को दिखाना चाहते थे कि जो ब्रिटिश अधिकारी और प्रशासक भारतीय लोगों के सामने खुद को न्यायप्रिय और दयावान बताते हैं तथा यूरोप की संस्कृति को भारतीय संस्कृति से श्रेष्ठ कहते हैं, उनके खुद के समाज में सूदखोरी जैसी अमानवीय व्यवस्था व्याप्त थी। जहाँ एक व्यक्ति ब्याज के बदले दूसरे व्यक्ति के शरीर से मांस काटने जैसी क्रूर शर्त रखता था। इस नाटक के अनुवाद के पीछे भारतेन्दु का उद्देश्य यही था कि यह नाटक पढ़कर हिन्दी समाज में वैचारिक चेतना पैदा हो और वह यह समझ सके कि ब्रिटिश अधिकारी दया और न्याय जैसे मूल्यों को सिर्फ दूसरों के लिए आदर्श बताते हैं जबकि उनका स्वयं का आचरण इसके बिल्कुल विपरीत है और वे भारत के लोगों के साथ अमानवीय व्यवहार कर रहे हैं।

भारतेन्दु के अनूदित नाटकों में राष्ट्रीय चेतना के विविध रूपों के दर्शन होते हैं। भारतेन्दु ने *दुर्लभ बन्धु* अनुवाद लोगों के मनोबल को ऊंचा करने के लिए ही किया था कि भारत के लोग यह देख सकें कि जिस ब्रिटिश समाज को वे बहुत श्रेष्ठ समझते हैं, वह समाज भी मध्यकाल में पिछड़ा हुआ था। वहाँ के लोगों में भी अवसरवादिता और सूदखोरी जैसी कई बुराइयाँ व्याप्त थीं। भारतेन्दु हिन्दी समाज में अपनी संस्कृति और सभ्यता के प्रति अनुराग पैदा करना चाहते

थे, जो पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता का अंधानुकरण करने में लगी हुई थी। अनुवाद के माध्यम से भारतेन्दु का यह प्रयास उनकी 'स्वत्व निज भारत गहै' की राष्ट्रीय चेतना से ही अनुप्राणित था। नवजागरण एवं राष्ट्र-बोध की इसी राजनीतिक चेतना को मजबूत करने के लिए भारतेन्दु ने बांग्ला एवं संस्कृत की अन्य महत्त्वपूर्ण कृतियों का भी अनुवाद किया।

द्विवेदी युग के हिन्दी अनुवादों की राष्ट्रीय चेतना

हिन्दी साहित्य में द्विवेदी युग के हिन्दी अनुवादों में राष्ट्रीय चेतना सर्वाधिक मूर्त रूप में अभिव्यक्त हुई है। भारतीय स्वाधीनता संग्राम में सन् 1885 से सन् 1920 तक का काल ऐतिहासिक और राष्ट्रीय चेतना के क्रमिक विकास का काल माना जाता है। सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। कांग्रेस के उदारवादी नेता दबे स्वर में ही सही ब्रिटिश अधिकारियों की नीतियों के प्रति अपना असंतोष जाहिर करने लगे थे। कांग्रेस की स्थापना पर प्रेमघन ने लिखा था, "*नीके भारत के दिन आये, नेशनल कांग्रेस अब होय। जागे भाग राजऋषि आये, लाटरियन छल खोय।*"[39] सन् 1917 में भड़ौच (गुजरात) में होने वाले 'गुजरात शिक्षा परिषद' के अधिवेशन में गांधी जी ने हिन्दी के महत्त्व की सर्वप्रथम घोषणा। इस अधिवेशन में कहा गया "राष्ट्र की भाषा अंग्रेजी नहीं हो सकती। अंग्रेजी को राष्ट्रीय भाषा बनाने की कल्पना हमारी निर्बलता की निशानी है।"[40]

इस युग की पत्र-पत्रिकाओं में देश की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को मुखर रूप में अभिव्यक्त किया जाने लगा था। उद्योग-धंधों के पतन पर चिंता जाहिर की जा रही थी। इस युग में दुनिया के अन्य देशों में होने वाले राष्ट्रीय आन्दोलनों बड़ी मात्रा में लेख लिखे जा रहे थे और इसके साथ ही भारत के अतीत का गुणगान भी किया जा रहा था। किसानों और कारीगरों की दुर्दशा तथा धन के बहिर्गमन पर चिंता प्रकट की जा रही थी। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय बुद्धिजीवियों का एक बड़ा वर्ग दुनिया भर में ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हो रही प्रगति एवं नवीन चिंतन से संवाद करने की स्थिति में आ गया था। कुल मिलाकर राष्ट्रीय आंदोलन की जमीन मजबूत हो गई थी और अंग्रेजी के साथ ही हिन्दी एवं अन्य प्रमुख देशी भाषाओं में इसकी अभिव्यक्ति होने लगी थी।

---

[39] दुबे, उदय नारायण, *राजभाषा के संदर्भ में हिन्दी आन्दोलन का इतिहास*, पृ. 149

[40] वही, पृ. 154

द्विवेदी युग में विश्व के अन्य देशों में हो रहे वैचारिक चिंतन को हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अनूदित किया गया। अंग्रेजी एवं अन्य भारतीय भाषाओं में अभिव्यक्त राष्ट्रीय चेतना संबंधी विचारों के आधार पर मौलिक लेख लिखे गए। इन लेखों की निर्मिति के पीछे अनुवाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। इस युग में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्रीधर पाठक, माधव राव सप्रे, बाबू विष्णु राव पराड़कर तथा *सरस्वती* एवं अन्य हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के लेखकों द्वारा किए गए अनुवाद राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। *सरस्वती* पत्रिका में छपने वाले कई मौलिक लेख व्यापक अर्थों में आत्मसातीकरण की ही उपज थे।

सरस्वती पत्रिका के अनूदित लेखों में राष्ट्रीय चेतना का स्वरूप

राष्ट्रीय चेतना के प्रसार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विषयों को लक्ष्य बनाकर लिखे गए अंग्रेजी लेखों के अनुवाद न केवल *सरस्वती* बल्कि द्विवेदी युग की अन्य प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में भी देखे जा सकते हैं। *सरस्वती* पत्रिका ने अनुवादों ने जहाँ एक ओर पुरातन सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए 'स्वत्व निज भारत गहै' की भारतेन्दु युगीन चेतना का व्यापक प्रचार-प्रसार किया, वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी एवं अन्य विदेशी भाषाओं के लेखों के अनुवाद के जरिए हिन्दी जाति में आधुनिक दृष्टि के निर्माण का भी प्रयास किया। पत्रिका में प्रकाशित होने वाले अनुवादों ने हिन्दी समाज को उसके अतीत का बोध कराते हुए आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन की प्रेरणा दी। "बेकन के निबंधों और जे.एस. मिल की 'ऑन लिबर्टी' के हिन्दी अनुवाद 'स्वाधीनता' के अंश सर्वप्रथम 'सरस्वती' पत्रिका में ही प्रकाशित हुए थे।"[41]

सरस्वती पत्रिका की साम्राज्यवाद विरोधी विचारधारा को रेखांकित करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं, "ब्रिटिश राज के विरोध में विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार पर राजेन्द्र लाल मित्र ने एक लिखा था। इस लेख का शुक्ल जी ने प्राचीन भारतवासियों का पहिरावा शीर्षक से रूपांतर किया जिसे सरस्वती पत्रिका ने सन् 1902 ई. में प्रकाशित किया।"[42] *सरस्वती* पत्रिका में इस प्रकार के कई अनुवाद प्रकाशित हुए, जिनके माध्यम से हिन्दी नवजागरण और राष्ट्रीय आंदोलन का एक व्यापक आधार तैयार किया गया। इन अनुवादों का उद्देश्य हिन्दी जाति में

---

[41] वही, पृ. 194-195, 253-254 एवं 342-378

[42] शर्मा, रामविलास, *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण*, पृ. 322

राष्ट्रीय प्रश्नों के प्रति समझ विकसित करना, और उन्हें सजग करना ही था। स्पष्टतः *सरस्वती* पत्रिका की अनुवाद नीति युगीन राष्ट्रीय संदर्भों से परिचालित हो रही थी।

डॉ. रामविलास शर्मा आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की अनुवाद नीति की ओर इशारा करते हुए लिखते हैं,"उन्होंने अंग्रेजी भाषा और साहित्य के विकास में अनुवादों के महत्त्व को पहचानकर हिन्दी के लिए उसी नीति पर चलने का निर्देश दिया।"[43] स्पष्टतः *सरस्वती* के हिन्दी अनुवादों ने नवजागरण की चेतना का व्यापक प्रचार-प्रसार किया, और हिन्दी जाति को देश की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों के प्रगति सजग किया। *सरस्वती* के अतिरिक्त इस युग की अन्य महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं में भी राष्ट्रीय नवजागरण से संबंधित महत्त्वपूर्ण लेखों के अनुवाद प्रकाशित हुए।

इस युग का अनूदित साहित्य सामाजिक बदलाव की चेतना से अनुप्राणित था और इस युग के अनुवादकों का लक्ष्य नवजागरणकालीन चेतना का प्रचार-प्रसार और साहित्य को समसामयिक विषयों से जोड़ना रहा। द्विवेदी जी के अनुवाद कर्म के बारे में प्रो. देवशंकर नवीन का मत है, "समसामयिक पर्यवस्थिति की वैज्ञानिक, राजनीतिक, आर्थिक हलचलों के प्रति भारत के आम नागरिक को जाग्रत करने और उनमें अस्मिताबोध भरने, आत्मसम्मान के प्रति सावधान रहकर सिर उन्नत रखने की प्रेरणा देने की दिशा में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का अवदान अद्वितीय है।"[44] फ्रांसिस बेकन और जे.एस. मिल जैसे साहित्यकारों का अनुवाद करते समय द्विवेदी जी की दृष्टि नवजागरण की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना से ही परिचालित हो रही थी। बेकन के *व्यय, विद्याध्ययन, विलम्ब, भाषण, सत्य, रूढ़ि, कार्यसाधन, भाग्योदय, नई प्रथा* और *निरीश्वर* जैसे *निबंधों* का व्यापक वैचारिक महत्त्व था। डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं, "अच्छी पुस्तकों और लेखों का अनुवाद प्रकाशित करना शिक्षा-प्रसार के लिए वह आवश्यक समझते थे।"[45] स्पष्टतः महावीर प्रसाद द्विवेदी का अनुवाद कर्म सोद्देश्य था। वे एक पराधीन देश की जनता को वैचारिक रूप से समृद्ध बनाना चाह रहे थे और इन अर्थों में उनकी चेतना राष्ट्र-निर्माण के प्रश्नों से जुड़ी थी। हर्बर्ट स्पेन्सर के *शिक्षा* अनुवाद के पीछे द्विवेदी जी की चिंता देश की हीन शिक्षा व्यवस्था थी। अनुवाद की भूमिका में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस बात

---

[43] शर्मा, रामविलास, *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण*, पृ. 322

[44] नवीन, देवशंकर, *अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य*, पृ. 122

[45] शर्मा, रामविलास, *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण*, पृ. 253-254

पर जोर दिया है कि लोग स्पेन्सर के शिक्षा-विषयक सिद्धांतों को जानें और अपने जीवन में इसका व्यवहार करें।

स्वाधीनता अनुवाद के माध्यम से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने यह दिखाया कि किस प्रकार ब्रिटेन का एक महान दार्शनिक जे.एस. मिल अपनी रचनाओं में तो व्यक्ति और विचारों की स्वतन्त्रता की बात करता है, पर भारत के संदर्भ में वह ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन का समर्थक है। मिल एक उपनिवेशवादी इतिहासकार था। वह भारत तथा अन्य उपनिवेशों में चल रहे स्वाधीनता आंदोलन का विरोधी था। मिल का कहना था कि उपनिवेशों की जनता अपने देश का शासन स्वयं चलाने में सक्षम नहीं है। इसलिए ब्रिटेन और अन्य देशों द्वारा अपने उपनिवेशों पर शासन की पकड़ को मजबूत बनाए रखना आवश्यक है। जबकि अपनी पुस्तक *ऑन लिबर्टी* में मिल स्वाधीनता पर बड़े ही उदार विचार रखता है और इसका महिमा मंडन करता है।

द्विवेदी जी ने मिल की पुस्तक का अनुवाद करके हिन्दी भाषी जनता के सामने ब्रिटिश विचारकों की कथनी और करनी के अंतर को उजागर किया। ब्रिटिश विचारक दुनिया के सामने स्वयं को लोकतन्त्र और मानवीय मूल्यों के सबसे बड़े समर्थक के रूप में प्रस्तुत करते थे और अपने औपनिवेशिक अभियानों को श्वेत अंग्रेज जाति द्वारा उपनिवेशों की जनता को सभ्य बनाने का सांस्कृतिक मिशन ठहराते थे। जबकि ब्रिटिश प्रशासकों का व्यवहार इसके ठीक विपरीत था। ऐसे समय में इस पुस्तक का अनुवाद निश्चय ही औपनिवेशिक सत्ता के वास्तविक चरित्र को सामने लाता है और हिन्दी जाति में उपनिवेशवाद विरोधी राष्ट्रीय प्रतिरोध की चेतना को मजबूत करता है। *स्वाधीनता* अनुवाद में कुल पाँच अध्याय हैं, जिनके नाम क्रमशः *प्रस्तावना, विचार और विवेचना की स्वाधीनता, व्यक्ति-विशेषता भी सुख का एक साधन है, व्यक्ति पर समाज के अधिकार की सीमा* और *प्रयोग* हैं। द्विवेदी जी ने इस अनुवाद की स्वतंत्र भूमिका भी लिखी है, जो नौ पृष्ठों में है। इस भूमिका में वे लिखते हैं, "स्वाधीनता का दूसरा अध्याय सब अध्यायों से अधिक महत्त्व का है। इस अध्याय में जो बाते हैं उनको जानने की आजकल बड़ी ही जरूरत है।"[46] द्विवेदी जी के लिए दूसरा अध्याय अधिक महत्त्व का क्यों था? इसे एक उद्धरण से समझ सकते हैं। "कहने का मतलब यह कि प्रजा को जो मत उचित जान पड़े उसे वह जाहिर करे। कोई भी राय कायम करके उसे जाहिर करने के विषय में गवर्नमेंट किसी तरह का दबाव प्रजा पर न डाले, किसी तरह का प्रतिबन्ध न करे।"[47] *स्वाधीनता* के

---

[46] यायावर, भारत, *महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली : खण्ड दस*, पृ. 114

[47] वही, पृ. 138

अनुवाद को लेकर द्विवेदी जी के विचार बिल्कुल स्पष्ट थे, "इस पुस्तक का विषय इच्छा की स्वाधीनता से सम्बन्ध नहीं रखता। इसमें इच्छा की स्वाधीनता का वर्णन नहीं रहेगा। इसमें उस स्वाधीनता अर्थात् आजादी का वर्णन रहेगा जिसका सम्बन्ध समाज से है।"[48]

इस पुस्तक का अनुवाद देशी पत्र-पत्रिकाओं की स्वायत्तता के दमन के दौर में किया गया था। द्विवेदी जी ने इस अनुवाद के माध्यम से हिन्दी समाज को स्वाधीन चिन्तन के लिए प्रेरित किया। इस संदर्भ में अनुवाद के तीसरे अध्याय की पंक्तियाँ विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, "अपना मत स्थिर करने के लिए-अपनी अपनी राय क़ायम करने के लिए सब आदमियों को स्वतन्त्रता का मिलना जरूरी है। हर आदमी को इस बात की आज़ादी मिलनी चाहिए कि जो राय उसे पसन्द हो – जो मत उसे अच्छा लगे – उसे ही वह कबूल करे। इतना ही नहीं, किन्तु उसे अपने मत को बिना किसी अटकाव के स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट करने की भी आज़ादी मिलनी चाहिए।"[49]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुवाद द्विवेदी जी द्वारा शुरू की गई अनुवाद परंपरा का ही विस्तार हैं। रामचन्द्र शुक्ल के अनूदित साहित्य के बारे में प्रो. मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है, "आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुवादों को देखकर उनकी ज्ञान की व्यापकता का अंदाजा लगता है और साथ ही इस बात का भी कि वे भारतीय समाज में कैसे विचारों का प्रचार-प्रसार करना चाहते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह प्रयत्न उपनिवेशवादी अनुवादों के प्रतिरोध के रूप में सामने आता है।"[50] स्पष्टतः प्रो. मैनेजर पाण्डेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अनुवाद दृष्टि को उपनिवेशवाद विरोधी कहने के पक्षधर हैं। हिन्दी नवजागरण के दौर में हैकेल की रूढ़िवाद विरोधी ज्ञान-विज्ञान को बढ़ावा देने वाली पुस्तक भारत में भी अत्यंत लोकप्रिय थी। शुक्ल जी द्वारा हैकेल का हिन्दी अनुवाद इसी रूढ़िवाद विरोधी और ज्ञान-विज्ञान संबंधी भौतिक चिंतन को बढ़ावा देने वाली परंपरा से जुड़ा है।

प्रो. देवशंकर नवीन का मत है, "अनुवाद की भूमिका में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उल्लेख किया कि गत शताब्दी (उन्नीसवीं शताब्दी) में यूरोप में भौतिक विज्ञान, रसायन, भूगर्भ विद्या, प्राणिविज्ञान, शरीरविज्ञान आदि के अंतर्गत नई-नई बातों का पता लगने लगा, नए-नए सिद्धांत स्थिर होने लगे,...एक ऐसे समय में, जब यूरोपीय शासन-तंत्र भारत जैसे धर्मप्राण

---

[48] वही, पृ. 119

[49] वही, पृ. 198

[50] पाण्डेय, मैनेजर, *आलोचना में सहमति और असहमति*, पृ. 113

देश के पवित्र ग्रंथों का विकृत अनुवाद प्रस्तुत कर भारतीय नागरिकों के मन में अपने ही धर्म एवं संस्कृति के प्रति हीन-भाव भर रहा था, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हीं के चिंतकों के विचार का चयन किया और अपने देश के राष्ट्र-भक्तों को अंग्रेजों का विकृत चेहरा दिखाकर मनोबल बढ़ाया।"[51] *विश्व प्रपंच* अनुवाद के माध्यम से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी जाति को यूरोप के धार्मिक अंधविश्वास विरोधी वैज्ञानिक चिंतन से परिचित कराना चाह रहे थे।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने अनुवादों के माध्यम से न केवल हिन्दी समाज में वैज्ञानिक चिंतन को बढ़ावा दिया बल्कि प्राचीन इतिहास के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण के निर्माण का भी प्रयास किया। शुक्ल जी द्वारा डॉ. श्वानबक की पुस्तक *मेगास्थिनीज़ इंडिका* के अनुवाद का उद्देश्य हिन्दी समाज की ऐतिहासिक दृष्टि का विस्तार करना ही था। एक सजग इतिहासबोध के माध्यम से शुक्ल जी देश की जनता को अपने प्राचीन इतिहास और संस्कृति के गौरवमयी पक्षों का बोध कराना चाहते थे। पर शुक्ल जी का इतिहासबोध पुनरुत्थानवादी नहीं था। *मेगास्थिनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन* की भूमिका में में शुक्ल जी विलियम जोन्स को भी धन्यवाद देते हैं, "धन्य वह घड़ी थी जिसमें सर विलियम जोन्स इन पुराणों की नामावली के चन्द्रगुप्त और यूनानियों के 'सैण्ड्रोकोटस' (Sandrakottos) में सादृश्य देखकर चौंके थे।... चन्द्र को बैक्ट्रिया (बलख़) के बादशाह सिल्यूकस का समकालीन मानकर उन्होंने बहुतेरे ऐतिहासिक तत्त्वों तक पहुंचने के लिए मार्ग खोल दिया।"[52]

एक विदेशी इतिहासकार मेगास्थिनीज़ द्वारा भारत के अतीत के बारे में लिखी गई प्रशंसापरक टिप्पणियाँ पराधीनता के दौर में देश की जनता के गिरते मनोबल को उसके स्वर्णिम अतीत का बोध करा सकती थीं और यह अनुवाद स्वराज के लिए संघर्षरत जनता को बड़ा आत्मसम्बल दे सकता था कि किस प्रकार प्राचीन भारत में मौर्य युग साहित्य, कला, संस्कृति, प्रशासन, व्यापार-वाणिज्य आदि के क्षेत्र में उन्नत दशा को प्राप्त था।

राजा सर टी. माधवराव की पुस्तक *माइनर हिंट्स* का अनुवाद शुक्ल जी ने एक निश्चित राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए किया था। हिन्दी में उस समय तक शासन पद्धति संबंधी ग्रन्थों का अभाव था। अपने अनुवाद *राज्यप्रबन्ध शिक्षा* की भूमिका में शुक्ल जी लिखते हैं "समाज के हित और सुभीते के लिए यह आवश्यक है कि उसमें अनुभव की हुई बातों का अच्छा संचय रहे जिससे लोगों को अपना कर्तव्य स्थिर करने के लिए इधर-उधर बहुत भटकना न पड़े।"[53] अंग्रेजों के

---

[51] वही, पृ. 125

[52] सिंह, ओमप्रकाश (सम्पा.), *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रंथावली,* खण्ड 6, पृ. 260

[53] वही, पृ. 367

कुशासन की चौतरफा आलोचना के दौर में शासन पद्धति से संबंधित इस ग्रंथ का अनुवाद शुक्ल जी ने हिन्दी समाज में राष्ट्रीय जागरण की भावना के प्रचार-प्रसार के उद्देश्य से ही किया था।

द्विवेदी युग के अनुवादकों में महावीर प्रसाद द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद अगला महत्त्वपूर्ण नाम श्रीधर पाठक का है। श्रीधर पाठक ने सन् 1886 में ओलिवर गोल्डस्मिथ के बैलड *द हरमिट* का अनुवाद उस दौर में किया जब खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में अनुपयुक्त बताया जा रहा था। जहाँ एक ओर भारतेन्दु स्वयं खड़ी बोली में कविता लिखना कठिन बता रहे थे, "न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ। इस भाषा की क्रियाओं में दीर्घ मात्रा विशेष होने के कारण बड़ी असुविधा होती है।"[54] वहीं दूसरी ओर *एकांतवासी योगी* का खड़ी बोली में किया गया यह काव्यानुवाद हिन्दीतर भाषा-भाषी प्रदेश बंगाल में भी अत्यंत लोकप्रिय हो रहा था। यह कविता युगीन संदर्भों में पश्चिमी सभ्यता के बरअक्स भारतीय परिवेश में प्रस्तुत की गई है। इस अनुवाद में पहली बार खड़ी बोली में प्रकृति का चित्रण किया गया है। *एकांतवासी योगी* के अनुवाद के माध्यम से श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का ऐतिहासिक कार्य किया।

ऊजड़ ग्राम अनुवाद के माध्यम से वे दिखाना चाह रहे थे कि पूंजीवादी व्यवस्था के क्या दुष्परिणाम हुए हैं और इंग्लैंड में किस प्रकार इस व्यवस्था ने मनुष्य को उससे परिवेश से अलग कर दिया है तथा व्यक्ति के अन्तर्मन में एक 'फाँक' पैदा कर दी है। वे इस अनुवाद के माध्यम से पश्चिमी सभ्यता के अंधानुकरण को लेकर समाज को सजग करना चाह रहे थे कि भारत में भी अंग्रेजों की पूंजीवादी नीतियों का दुष्परिणाम यही हो सकता है। श्रीधर पाठक की काव्य-दृष्टि के बारे में मन्मथ नाथ गुप्त लिखते हैं, "कांग्रेस के जन्म से पूर्व ही पाठक जी अपनी कविता में स्वाधीन भारत का स्वप्न देख और दिखा चुके थे। श्रीधर पाठक हिन्दी के प्रथम और प्रमुख राष्ट्र कवि थे उनके बाद आए मैथिलीशरण और दिनकर।"[55] निस्संदेह श्रीधर पाठक ने इस अनुवाद के माध्यम से हिन्दी में राष्ट्रीय काव्यधारा की बुनियाद तैयार करने का काम किया जिस पर आगे चलकर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता का स्वर और प्रखर रूप में अभिव्यक्त हुआ।

विलियम गोल्डस्मिथ ने *द ट्रैवलर* की रचना उस दौर में की थी जब इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति अपने चरम पर थी। औद्योगिक क्रांति से उपजी अशान्ति और उथल-पुथल से व्यग्र व्यक्ति के

---

[54] शर्मा, हेमंत (सम्पा.), *भारतेन्दु समग्र*, पृ. 74-75

[55] पाठक, पद्मधर, *श्रीधर पाठक ग्रन्थावली* (भाग-2) के आवरण पृष्ठ से उद्धृत

द्वारा जीवन में एकांत और सुकून की तलाश *द ट्रैवेलर* की मूल विषयवस्तु है। गोल्डस्मिथ की इस कविता का एक राष्ट्रीय संदर्भ भी है। वे इस कविता में कई राष्ट्रों का चित्रण करते हैं और उनकी अपूर्णता को दर्शाते हैं। गोल्डस्मिथ मशीनी सभ्यता के बरअक्स ग्रामीण जीवन और प्रेम को तरजीह देते हैं। उनके काव्य के बारे में डॉ. रमण सिन्हा ने लिखा है "गोल्डस्मिथ काव्य में भावना, विषण्णता, प्रकृति-प्रेम एवं निष्कपट जीवन को तरजीह देते थे और जाहिर है कि ऐसे कविता की अपील ऐसे कृषि प्रधान देश में सर्वाधिक होगी जो अभी-अभी औद्योगिक समाज की विसंगतियों को महसूस करना आरंभ किया हो।"[56]

श्रीधर पाठक का यह अनुवाद इंग्लैंड और अन्य औद्योगिक देशों के समाज की विषमताओं को उजागर करता है। पूंजीवादी व्यवस्था से उपजी अमानवीय परिस्थितियाँ ही श्रीधर पाठक के इस अनुवाद की प्रेरणा हैं। वे इसके माध्यम से हिन्दी समाज को पूंजीवादी व्यवस्था के दुष्परिणाम दिखाना चाह रहे थे। अपने अनुवाद में श्रीधर पाठक ने इंग्लैंड की जगह भारत के प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण किया। इस विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत है "उनके द्वारा किए गए अनुवाद देश के प्राकृतिक सौंदर्य के चित्रण के माध्यम से देश-प्रेम और राष्ट्रीय चेतना के प्रसार की भावना से ही प्रेरित थे।"[57] विदेशी परिवेश की जगह अपने देश की प्रकृति और परिवेश का चित्रण करना तथा अनुवाद को पूरी तरह से भारतीय परिवेश में प्रस्तुत करना देश-प्रेम और राष्ट्रीय चेतना का प्रसार करना ही है।

---

[56] सिन्हा, रमण, *अनुवाद और रचना का उत्तर जीवन*, पृ. 54

[57] पाठक, पद्मधर, *श्रीधर पाठक ग्रन्थावली* (भाग-2) की *भूमिका*, पृ. iii-vi

उपसंहार

'राष्ट्रीय चेतना के विकास में हिन्दी अनुवाद की भूमिका, 1857-1920' विषय पर शोध करने का विचार मेरे मन में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केन्द्र से एम.ए. और एम. फिल (हिन्दी अनुवाद) की कक्षाओं के दौरान आया था। हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों के अध्ययन के क्रम में मुझे यह ज्ञात हुआ था कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विभिन्न साहित्यिक विधाओं के विकास और हिन्दी नवजागरण का वैचारिक आधार तैयार करने में अनुवाद की केन्द्रीय भूमिका रही है। यह मेरे लिए बड़ी उत्सुकता और जिज्ञासा का विषय था कि साहित्यिक और वैचारिक लेखन के माध्यम से देश में राष्ट्रीय विचारों के प्रसार और सामाजिक बदलाव में अनुवाद ने किस प्रकार अपनी भूमिका निभाई थी? इस विषय पर शोध करने के मूल में यही प्रेरणा थी।

प्लासी की लड़ाई (सन् 1757) और बक्सर के युद्ध (सन् 1764) में विजयी होने के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत की एक प्रमुख राजनीतिक शक्ति बन गई थी। कंपनी का एकमात्र उद्देश्य भारत का आर्थिक शोषण करना था। इस उद्देश्य को पूरा करने और भारत के औपनिवेशिक शासन को स्थायी बनाने के लिए अंग्रेजों ने कई महत्त्वपूर्ण संस्थाओं की स्थापना की। इन संस्थाओं का उद्देश्य 'ज्ञान के अनुकूलन' द्वारा उपनिवेशवाद की प्रतिष्ठा करना भी था। इस संस्थाओं से जुड़े एक वर्ग द्वारा भारतीय पाठ का विकृत अनुवाद करके भारतीय संस्कृति को यूरोप की संस्कृति की तुलना में हीन साबित करने की कोशिश की गई। इन ब्रिटिश संस्थाओं एवं अध्येताओं ने भारतीय संस्कृति के प्रधान अंश को आध्यात्मिक और रहस्यवादी सिद्ध करने का प्रयास किया। इनके द्वारा प्रचारित किया गया कि भारत पर शासन करके वे भारतीय लोगों को सभ्य बनाने का पुनीत कार्य कर रहे हैं और ऐसा करना श्रेष्ठ यूरोपीय जाति का सांस्कृतिक दायित्व है। कवि रुडयार्ड किपलिंग ने इस तर्क के वैचारिक समर्थन में 'व्हाइट मेंस बर्डेन' नाम से एक कविता भी लिखी।

भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना और प्रसार के साथ ही अंग्रेज प्रशासकों ने भारतीयों की दिमागी गुलामी का जो औपनिवेशिक अभियान आरंभ किया, उसका पहला कदम था - भारतीय साहित्य का अनुवाद करना। अंग्रेज बुद्धिजीवियों ने भारतीय कानून, दर्शन, इतिहास, साहित्य आदि के अनुवाद और व्याख्या द्वारा भारतीय मानस को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास किया। अनुवाद के माध्यम से वे भारत के आत्मबोध और जगत बोध को,

उनकी अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों और रचनाओं को अपनी दृष्टि, भावना तथा समझ के अनुकूल बना रहे थे। इसका उद्देश्य भारत का औपनिवेशिक आत्मसातीकरण करना था। उपनिवेशवादी शासन को चिर स्थायी बनाने के लिए भारतीयों के आत्मबोध और जगतबोध को अपने अनुकूल बनाकर भारत का आत्मसातीकरण किया गया और एक औपनिवेशिक विमर्श का निर्माण किया गया। उपनिवेशवादियों ने अपनी राजनीति और विचारधारा के अनुसार भारतीय पाठ की पुनर्प्रस्तुति की, जिसमें उनकी अपनी विचारधारा और राजनीति निहित थी।

अनुवाद के क्षेत्र में दूषित धारणाओं का प्रवेश ब्रिटिश साम्राज्य के शासन में ही हुआ। अंग्रेजी राज के समर्थक अनुवादकों ने भारत के प्राचीन इतिहास और साहित्य के प्रामाणिक पाठ का अभद्र अनुवाद प्रस्तुत कर अनुवाद-कर्म को विकृत किया। औपनिवेशिक अनुवाद भारतीय समाज, कानून, इतिहास, संस्कृति, साहित्य, परंपरा और चेतना के आत्मसातीकरण के अभियान का साधन बना। विलियम जोन्स भारतीय इतिहास और साहित्य के प्रथम महत्त्वपूर्ण अनुवादक थे। विलियम जोन्स ने भारतीय साहित्य और इतिहास के कई विस्मृत पन्नों को खोजने का काम किया था। भारतीय और यूनानी देवमण्डल की तुलना और भारतीय देवी-देवताओं पर लिखी गई मौलिक कविताओं में वे कहीं-कहीं भारतीय संस्कृति से अभिभूत भी दिखते हैं। पर उनकी दृष्टि भी अंततः भारत में साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी संरचनाओं को मजबूत करने की ही रही। अपने *फारसी व्याकरण* की भूमिका में विलियम जोन्स ने लिखा था - भारत के प्राचीन साहित्य के अनुवाद से जितना विस्तार हमारे ज्ञान का होगा उतना ही विस्तार ब्रिटिश साम्राज्य का भी होगा। स्पष्टतः अनुवाद कर्म के उद्यम के पीछे विलियम जोन्स की मंशा ज्ञानार्जन के साथ ही ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार की भी थी, जिसे उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है। विलियम जोन्स और इनके बाद के ब्रिटिश अध्येताओं का मानना था कि भारत के लोग अपनी संस्कृति और कानून की प्रामाणिक व्याख्या नहीं कर सकते हैं। इसलिए वे स्वयं को भारतीय संस्कृति और कानूनों का प्रवक्ता सिद्ध करना चाहते थे और इस आग्रह के साथ इनके द्वारा ब्रिटिश शासन को वैध ठहराने का प्रयास किया जा रहा था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि भारतीय बौद्धिक वर्ग के मन में भी अपने पाठ, भाषा और संस्कृति के प्रति अगाध प्रेम उभरने लगा। नवजागरण की शुरुआत के साथ भारत का शिक्षित समुदाय धीरे-धीरे सचेत होने लगा। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के अनुवाद संबंधी अभियान के अभिप्राय को समझते हुए इसके उत्तर की खोज की दिशा में प्रयत्न शुरू किया गया और भारतीय समाज को जागरूक करने के लिए नवजागरण के निर्माताओं द्वारा स्वयं अनुवाद का काम आरंभ कर दिया गया। इस प्रकार नवजागरण की

राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना के प्रसार में, भारत की विभिन्न जातीयताओं के बीच आत्मीय संबंध के विकास में तथा राष्ट्रीय चेतना के प्रसार के आरंभिक दौर में अनुवाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। नवजागरण के उन्नायकों ने अनुवाद को अपने सांस्कृतिक प्रतिरोध का माध्यम बनाया। भारतीय नवजागरण और हिन्दी नवजागरण के अधिकांश निर्माता महत्त्वपूर्ण अनुवादक थे। भारतेन्दु ने स्वयं अंग्रेजी के साथ-साथ संस्कृत, बांग्ला आदि की महत्त्वपूर्ण रचनाओं का अनुवाद किया। हिन्दी अनुवाद की यह परंपरा महावीर प्रसाद द्विवेदी से होते हुए रामचन्द्र शुक्ल तक पहुंचती है।

अतीत-बोध से प्रेरित तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान एवं अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय बुद्धिजीवियों के मन में अंग्रेजों की कथनी और करनी में अंतर देखकर उनकी औपनिवेशिक नीतियों के विरुद्ध रोष पैदा होने लगा। इसी समय नवजागरण की चेतना से युक्त आधुनिक शिक्षा प्राप्त समाज सुधारकों के एक वर्ग ने देश में धर्म और समाज-सुधार आंदोलनों की जमीन तैयार की। दादा भाई नौरोजी ने सन् 1867 में 'धन-निष्कासन' के सिद्धांत द्वारा अंग्रेजों की औपनिवेशिक लूट का विस्तृत विवेचन किया और रमेश चन्द्र दत्त ने *इकनॉमिक हिस्ट्री आफ इण्डिया* में उपनिवेशवाद के विभिन्न चरणों की विस्तृत व्याख्या की। हिन्दी नवजागरण पर इस चेतना का प्रभाव अनुवाद के माध्यम से ही पड़ा। हिन्दी नवजागरण को वैचारिक आधार देने वाले प्रमुख साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के लेखन में भारतीय धन के विदेश जाने की चिंता इसी आर्थिक शोषण और ब्रिटिश उपनिवेशवाद के स्वरूप के पहचान की उपज थी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने दादा भाई नौरोजी, रमेश चन्द्र दत्त और अन्य राष्ट्रवादी विचारकों की आर्थिक अवधारणाओं को अपनी रचनाओं में अनुवाद के माध्यम से अभिव्यक्त किया। भारतीय धन का विदेश जाना हिन्दी समाज को अखरने लगा था। नवजागरण की सांस्कृतिक चेतना से लैस अनुवादकों द्वारा खोज-खोजकर संस्कृत के श्रेष्ठ ग्रन्थों और भारत के उत्कृष्ट साहित्य का अनुवाद किया जाने लगा। अनुवाद का यह उद्यम 'ज्ञान के अनुकूलन' और 'औपनिवेशिक आत्मसातीकरण' की प्रक्रिया के उत्तर के रूप में चिह्नित किया जाता है।

उन्नीसवीं सदी के भारतीय नवजागरण में संस्कृत से हुए अनुवादों की भूमिका युगांतरकारी रही। यूरोप में प्रबोधन और पुनर्जागरण के मूल में जो भूमिका ग्रीक और लैटिन भाषाओं से हुए अनुवादों की मानी जाती है वही भूमिका भारतीय नवजागरण और हिन्दी नवजागरण के उद्भव और विकास में संस्कृत की रही। ऐसा प्रतीत होता है मानो यूरोपीय श्रेष्ठता को कायम करने के लिए दी गई प्राच्यवादी स्थापनाओं के जवाब में खोज-खोजकर संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद किए गए और यह सिद्ध करने की कोशिश की गई कि अंग्रेजी राज आने से पहले भी

भारत में प्राचीन काल से ही सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना, इतिहास बोध और प्रगतिशील चिन्तन का दौर रहा है।

खड़ी बोली हिन्दी का उद्भव और विकास हिन्दी नवजागरण के उदय के साथ हुआ और नवजागरण की चेतना के पीछे अनुवाद की केन्द्रीय भूमिका रही। आधुनिक हिन्दी साहित्य में गद्य लेखन की शुरुआत प्रायः नाटकों से मानी जाती है। साथ ही खड़ी बोली गद्य की सभी विधाओं में नाटक का स्वरूप सर्वाधिक सामाजिक होता है। भारतेन्दु युग में नाटकों का अनुवाद संभवतः इसीलिए सबसे अधिक हुआ क्योंकि नवजागरण की सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना के प्रसार में नाटक विधा सहायक हो सकती थी। भारतेन्दु युग के अनुवादकों ने हिन्दी नाटक को तत्कालीन युगबोध के अनुरूप ढाला और आगे लिखे जाने वाले मौलिक नाटकों में राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों के समावेश का मार्ग प्रशस्त किया।

हिन्दी में उपन्यास रचना की प्रेरणा भी बांग्ला साहित्य से प्राप्त हुई थी। हिन्दी लेखकों का ध्यान नए ढंग के उपन्यासों की रचना की ओर बांग्ला भाषा की देखा-देखी ही आकृष्ट हुआ। हिन्दी उपन्यासों के नए ढंग का द्वार भी अनुवाद के माध्यम से ही खुला था। बांग्ला उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद के प्रभावस्वरूप हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक और ऐतिहासिक विषयों पर स्वतंत्र उपन्यास लेखन की प्रवृत्ति पैदा हुई और आगे चलकर उपनिवेशवाद विरोधी चेतना का संवाहक बनने वाले हिन्दी उपन्यास को दिशा देने में बांग्ला उपन्यासों के हिन्दी अनुवादों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। भारतेन्दु युग में अंग्रेजी से हिन्दी में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों स्तरों पर अनुवाद हुआ। एक ओर जहां अंग्रेजी से सीधे हिन्दी अनुवाद किया गया, वहीं दूसरी ओर परोक्ष रूप से पहले अंग्रेजी से बांग्ला में अनुवाद हुआ और फिर बांग्ला अनुवाद का हिन्दी अनुवाद हुआ।

भारतीय नवजागरण के दौर में संस्कृत एवं अंग्रेजी से हुए अनुवादों की वही भूमिका थी जो यूरोपीय पुनर्जागरण के संदर्भ में ग्रीक और लैटिन अनुवादों की थी। यह आकस्मिक नहीं है कि भारतेन्दु ने शेक्सपियर के नाटकों में अनुवाद के लिए *मर्चेंट ऑफ वेनिस* को ही चुना। भारतेन्दु द्वारा *मर्चेंट ऑफ वेनिस* का *दुर्लभ बंधु* नाम से नाट्य-रूपांतर भारतीय व्यापारी वर्ग की चिंता पर आधारित है। भारत के व्यापारी वर्ग की दशा से मेल खाती हुई परिस्थितियों ने ही भारतेन्दु को शेक्सपियर के नाटक की ओर उन्मुख किया। *दुर्लभ बंधु* नाटक के हिन्दी अनुवाद के माध्यम से भारतेन्दु यह भी दिखाना चाह रहे थे कि यूरोपीय लेखक जिस ब्रिटिश समाज और संस्कृति का गुणगान कर रहे हैं और भारत की संस्कृति को पिछड़ी बता रहे हैं, उस ब्रिटिश समाज के सर्वश्रेष्ठ नाटककार शेक्सपियर की इस कृति में ब्रिटिश समाज में व्याप्त सूदखोरी जैसी अमानवीय प्रथा का चित्रण हुआ है। शेक्सपियर के इस नाटक में सूद के बदले

शरीर का मांस लेने की कहानी का चित्रण है। भारतेन्दु ने नाटक के सम्पूर्ण अंग्रेजी परिवेश का भारतीय संदर्भ में पुनराख्यान करते हुए नाटक के पात्रों, स्थलों, मिथकों, परिधानों, भाषाओं आदि का भारतीयकरण कर दिया। नाटक में अंग्रेजी मिथकों का रूपांतर भी भारतीय संस्कृति के अनुरूप करते हुए नेस्टर को धर्मराज, ओरकिल को वेद व्यास, सिबिला को मार्कण्डेय, वीरनस को कामदेव और डानियल को विक्रमादित्य में रूपांतरित कर दिया गया और ईसाई को हिन्दू और यहूदी को जैन के रूप में दिखाया गया। अनूदित नाटक में परिवेश भी भारतीय ढंग से चित्रित किया गया है।

दुर्लभ बंधु नाटक के अनुवाद में भारतेन्दु द्वारा किए गए परिवर्तन के मूल में राष्ट्रीय नवजागरण की चेतना के विस्तार की भावना ही प्रमुख थी। पुनरुत्थानवाद औपनिवेशिक मानस की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है, जहां शौर्य के नए मिथों का सृजन होता है। भारतेन्दु युग के लेखकों की पुनरुत्थानवादी दृष्टि को इस संदर्भ में भी देखा जा सकता है, जो मौलिक लेखन और अनुवाद दोनों में अभिव्यक्त हुई है। नवजागरण के दौर में अतीत का आदर्शीकरण एक ऐतिहासिक अनिवार्यता थी। मूल नाटक की भारतीय परिस्थितियों से मेल खाती कथावस्तु का सम्पूर्ण भारतीयकरण एक सांस्कृतिक प्रतिरोध के रूप में देखा जा सकता है।

अनुवाद की यह परंपरा महावीर प्रसाद द्विवेदी से होते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक पहुंचती है। हिन्दी साहित्य में द्विवेदी युग के हिन्दी अनुवादों में राष्ट्रीय चेतना सर्वाधिक मूर्त रूप में अभिव्यक्त हुई। भारतीय स्वाधीनता संग्राम में सन् 1885 से सन् 1920 तक का काल-खंड ऐतिहासिक और राष्ट्रीय चेतना के क्रमिक विकास का काल माना जाता है। सन् 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। कांग्रेस के उदारवादी नेता दबे स्वर में ही सही ब्रिटिश अधिकारियों की नीतियों के प्रति अपना असंतोष जाहिर करने लगे थे। युगीन पत्र-पत्रिकाओं में देश की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया जाने लगा था। भारत के अतीत का गुणगान किया जा रहा था। किसानों और कारीगरों की दुर्दशा पर चिंता प्रकट की जा रही थी। उद्योग- धंधों के पतन पर चिंता जाहिर की जा रही थी। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय बुद्धिजीवियों का एक बड़ा वर्ग दुनिया के अन्य देशों में हो रहे वैचारिक आन्दोलनों, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हो रही प्रगति तथा नवीन चिंतन पर लेख लिख रहा था। कुल मिलाकर राष्ट्रीय आंदोलन की जमीन मजबूत हो गई थी और अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी एवं अन्य प्रमुख देशी भाषाओं में इन बदलावों की अभिव्यक्ति होने लगी थी। द्विवेदी युग के साहित्य में विश्व की अन्य भाषाओं में हो रहे वैचारिक चिंतन को प्रमुख भारतीय भाषाओं में अनूदित किया गया। अंग्रेजी एवं अन्य

भारतीय भाषाओं में राष्ट्रीय विषयों पर अभिव्यक्त होने वाले विचारों को आत्मसात करके हिन्दी में कई मौलिक लेख लिखे गए। इन लेखों की निर्मिति में अनुवाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्रीधर पाठक, माधव राव सप्रे, बाबू विष्णु राव पराड़कर तथा *सरस्वती* एवं अन्य हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के लेखकों द्वारा इस युग में किए गए हिन्दी अनुवाद राष्ट्रीय चेतना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। *सरस्वती* पत्रिका में छपने वाले कई मौलिक लेख अंग्रेजी लेखों पर आधारित होते थे।

राष्ट्रीय चेतना के प्रसार की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विषयों को लक्ष्य बनाकर लिखे गए अंग्रेजी लेखों के अनुवाद न केवल *सरस्वती* बल्कि द्विवेदी युग की अन्य प्रमुख पत्रिकाओं में भी देखे जा सकते हैं। *सरस्वती* पत्रिका ने जहां एक ओर पुरातन सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को रेखांकित करते हुए 'स्वत्व निज भारत गहै' की भारतेन्दु युगीन चेतना का प्रसार किया, वहीं दूसरी ओर अंग्रेजी एवं अन्य विदेशी भाषाओं के लेखों के अनुवाद के जरिए हिन्दी जाति में आधुनिक दृष्टि का निर्माण किया। पत्रिका में प्रकाशित होने वाले अनुवादों ने हिन्दी समाज को अपने अतीत का बोध कराने के साथ ही आधुनिक वैज्ञानिक चिंतन की प्रेरणा दी।

विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार पर राजेन्द्र लाल मित्र ने एक लिखा था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस लेख का *प्राचीन भारतवासियों का पहिरावा* शीर्षक से अनुवाद किया, जिसे सरस्वती पत्रिका ने सन् 1902 में प्रकाशित किया। *सरस्वती* पत्रिका में इस प्रकार के कई अनुवाद प्रकाशित हुए, जिनके माध्यम से हिन्दी नवजागरण का एक व्यापक आधार तैयार किया गया। इन अनुवादों का उद्देश्य हिन्दी जाति में राष्ट्रीय प्रश्नों के प्रति समझ विकसित करना और उन्हें राजनीतिक रूप से सजग करना था। स्पष्टतः *सरस्वती* पत्रिका की अनुवाद नीति युगीन राष्ट्रीय संदर्भों से संचालित हो रही थी। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अंग्रेजी भाषा और साहित्य के विकास में अनुवादों के महत्त्व को पहचानकर इस युग के साहित्यकारों को हिन्दी के लिए उसी नीति पर चलने का निर्देश दिया। इस युग के अनुवादकों का लक्ष्य नवजागरणकालीन चेतना का प्रचार-प्रसार और साहित्य को समसामयिक विषयों से जोड़ना रहा। स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी का अनुवाद कर्म सोद्देश्य था। फ्रांसिस बेकन और जे.एस. मिल जैसे साहित्यकारों का अनुवाद करते समय द्विवेदी जी की दृष्टि नवजागरण की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना से ही परिचालित हो रही थी। बेकन के *व्यय, विद्याध्ययन, विलम्ब, भाषण, सत्य, रूढ़ि, कार्यसाधन, भाग्योदय, नई प्रथा और निरीश्वर जैसे निबंधों* का व्यापक वैचारिक महत्त्व था। द्विवेदी जी ने इन निबंधों का अनुवाद इसीलिए किया क्योंकि वे देश की पराधीन जनता को वैचारिक रूप से समृद्ध बनाना चाह रहे थे और इन अर्थों में उनकी

चेतना राष्ट्र-निर्माण के प्रश्नों से जुड़ी थी। *शिक्षा* अनुवाद के पीछे द्विवेदी जी की चिंता देश की हीन शिक्षा व्यवस्था थी। अनुवाद की भूमिका में उन्होंने इस बात पर जोर दिया है कि लोग स्पेन्सर के शिक्षा-विषयक सिद्धांतों को जानें और अपने जीवन में इसका व्यवहार करें। *स्वाधीनता* अनुवाद के माध्यम से आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने यह दिखाया कि किस प्रकार ब्रिटेन का एक महान दार्शनिक जे.एस. मिल अपनी रचनाओं में तो व्यक्ति और विचारों की स्वतन्त्रता की बात करता है, पर भारत के संदर्भ में वह ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति का समर्थक है। अनुवाद का यह प्रयत्न उपनिवेशवादी शासन के प्रतिरोध के रूप में सामने आता है।

हिन्दी नवजागरण के दौर में हैकेल की रूढ़िवाद विरोधी ज्ञान-विज्ञान को बढ़ावा देने वाली पुस्तक *रिड्ल ऑफ दि यूनिवर्स* भारत में अत्यंत लोकप्रिय थी। शुक्ल जी द्वारा *विश्व प्रपंच* नाम से किया गया इस पुस्तक का अनुवाद रूढ़िवाद विरोधी और ज्ञान-विज्ञान संबंधी भौतिक चिंतन को बढ़ावा देने वाली परंपरा से जुड़ा है। इस अनुवाद के माध्यम से शुक्ल जी हिन्दी समाज को यूरोप के धार्मिक अंधविश्वास विरोधी वैज्ञानिक चिंतन से परिचित कराना चाह रहे थे। अनुवाद की भूमिका में शुक्ल जी ने पूरब और पश्चिम की ज्ञान परंपरा के बीच सांस्कृतिक सेतु निर्मित करने का प्रयास किया और स्वाधीनता आन्दोलन के दौर में पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान के समक्ष अपनी संस्कृति को हीन समझने वाले लोगों में स्वत्व के प्रति प्रेम जगाने का कार्य किया। बाल गंगाधर तिलक के *गीता रहस्य* में भी *रिड्ल ऑफ दि यूनिवर्स* का भारतीय दर्शन और ज्ञान-विज्ञान से कई जगह तुलनात्मक अध्ययन देखने को मिलता है।

मेगास्थिनीज इंडिका के अनुवाद का उद्देश्य भी हिन्दी समाज की ऐतिहासिक दृष्टि का विस्तार करना था। एक सजग इतिहासबोध के माध्यम से शुक्ल जी देश की जनता को अपने प्राचीन इतिहास और संस्कृति के गौरवमयी पक्षों का बोध कराना चाहते थे। एक विदेशी इतिहासकार मेगास्थिनीज द्वारा भारत के अतीत के बारे में लिखी गई प्रशंसापरक टिप्पणियाँ पराधीनता के दौर में देश की जनता के गिरते मनोबल को उसके स्वर्णिम अतीत का बोध करा सकती थीं। यह अनुवाद स्वराज के लिए संघर्षरत जनता को बड़ा आत्मसम्बल दे सकता था कि किस प्रकार प्राचीन भारत में मौर्य युग साहित्य, कला, संस्कृति, प्रशासन, व्यापार-वाणिज्य आदि के क्षेत्र में उन्नत दशा को प्राप्त था। आचार्य शुक्ल द्वारा राजा सर टी. माधवराव की पुस्तक *माइनर हिंट्स* का *राज्यप्रबन्ध शिक्षा* नाम से अनुवाद भी एक निश्चित राष्ट्रीय उद्देश्य के लिए किया गया। अंग्रेजों के कुशासन की चौतरफा आलोचना के दौर में शुक्ल जी द्वारा शासन पद्धति से संबंधित इस ग्रंथ का अनुवाद लोगों में अंग्रेजी राज के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि के विकास और राष्ट्रीय जागरण के उद्देश्य के लिए ही किया गया होगा।

सन् 1886 में ओलिवर गोल्डस्मिथ के बैलड *द हरमिट* का अनुवाद श्रीधर पाठक ने उस दौर में किया जब खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में अनुपयुक्त बताया जा रहा था। युगीन संदर्भों में यह कविता पश्चिमी सभ्यता के बरअक्स भारतीय परिवेश में प्रस्तुत की गई और इस अनुवाद में पहली बार खड़ी बोली में प्रकृति-चित्रण किया गया। श्रीधर पाठक ने *एकांतवासी योगी* अनुवाद के माध्यम से खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का ऐतिहासिक प्रयास किया, जिसने आगे चलकर हिन्दी नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में हिन्दी लोकवृत्त के निर्माण में बड़ी भूमिका निभाई। *ऊजड़ ग्राम* अनुवाद के माध्यम से वे दिखाना चाह रहे थे कि इंग्लैंड में पूंजीवादी व्यवस्था के क्या दुष्परिणाम हुए हैं? किस प्रकार इस व्यवस्था ने मनुष्य को उससे परिवेश से अलग कर दिया है और व्यक्ति के अन्तर्मन में एक फाँक पैदा कर दी है। भारत में भी ब्रिटिश राज की पूंजीवादी नीतियों का यही दुष्परिणाम हो सकता है। गोल्डस्मिथ द्वारा *द ट्रैवलर* की रचना उस दौर में हुई थी जब इंग्लैंड में औद्योगिक क्रान्ति का दौर था। औद्योगिक क्रांति से उपजी अशान्ति और उथल-पुथल से व्यग्र होकर आत्म-सुख की तलाश कविता की मूल विषयवस्तु है। गोल्डस्मिथ की इस कविता का राष्ट्रीय संदर्भ भी है। वे अपनी कविता में कई राष्ट्रों का चित्रण करते हैं और इन राज्यों की अपूर्णता को दर्शाते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था के आधिपत्य से उपजी अमानवीय परिस्थितियाँ ही श्रीधर पाठक के इस अनुवाद की प्रेरणा हैं। पूंजीवादी सभ्यता से विमुख होकर गोल्डस्मिथ प्रेम और ग्रामीण जीवन को तरजीह देते हैं। वे इसके माध्यम से हिन्दी समाज को पूंजीवादी व्यवस्था के दुष्परिणाम दिखाना चाह रहे थे। श्रीधर पाठक का यह अनुवाद इंग्लैंड और अन्य औद्योगिक समाजों की विषमताओं को उजागर करता है। अपने अनुवाद में श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ की मूल संवेदना को पूरी तरह से भारतीय परिवेश में प्रस्तुत किया। श्रीधर पाठक के अनुवाद देश के प्राकृतिक सौंदर्य के चित्रण के माध्यम से देश-प्रेम और राष्ट्रीय चेतना के प्रसार की भावना से प्रेरित हैं और हिन्दी की स्वच्छंद काव्यधारा की बुनियाद हैं, जिस पर आगे चलकर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता का स्वर और प्रखर रूप में अभिव्यक्त होता है।

भारत एक बहुभाषा-भाषी देश है जहां एक साथ विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों को मानने वाले लोग रहते हैं। भारत में प्रांतों का गठन भाषाई आधार पर किया गया है। ऐसे में देश की आंतरिक सुरक्षा और अखंडता इस बात पर निर्भर करती है कि अलग-अलग भाषा और संस्कृति वाले लोग आपस में संवाद कितना कर पाते हैं। संवादहीनता की स्थितियाँ ही आगे चलकर अलगाव का आधार बनती हैं। ऐसे में भारत की बहु-सांस्कृतिक राष्ट्र की पहचान को बनाए रखने में अनुवाद की भूमिका महत्त्वपूर्ण है।

हिन्दी साहित्य में बीसवीं सदी का आरंभ भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के क्रमिक विकास और राष्ट्रीय आंदोलनों के लोकप्रिय होने का दौर था। इस समय पूरे देश में ब्रिटिश राज के विरुद्ध असंतोष का स्वर संगठित रूप से मुखरित होने लगा था और लगभग सभी भारतीय भाषाओं के मौलिक और अनूदित साहित्य में देश-प्रेम एक प्रमुख विषय-वस्तु के रूप में स्थापित होने लगा था। इस समय के भारतीय साहित्य एवं लेखों में अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों से भारतीय साहित्यकारों एवं लेखकों की स्पष्ट असहमति देखने को मिलती है। इन्हीं ऐतिहासिक परिस्थितियों में सखाराम गणेश देउस्कर की *देशेर कथा* का पहला अनुवाद माधव प्रसाद मिश्र एवं अमृत लाल चक्रवर्ती ने सन् 1907 में तथा दूसरा अनुवाद बाबू राव विष्णु पराड़कर ने सन् 1910 में प्रकाशित किया। बंगाल के स्वदेशी आन्दोलन में *देशेर कथा* का ऐतिहासिक महत्त्व रहा। इस समय *देशेर कथा* को अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई। इस पुस्तक के प्रकाशन ने बंगाल के बौद्धिक वर्ग में एक बड़ी हलचल पैदा कर दी थी, इसने स्वदेशी आन्दोलन को एक नई गति दी तथा इसे अनेक रूपों में प्रभावित किया। सखाराम गणेश देउस्कर ने *देशेर कथा* की रचना स्वाधीन चेतना को जगाने के लिए ही किया था। देउस्कर ने अपनी पुस्तक में अंग्रेजी शासन के गुण-दोष, देश की अवस्था, देशी कारीगरी का नाश, कारीगरों का सर्वनाश, स्वदेशी आन्दोलन, किसानों का सर्वनाश, आय और व्यय, बट्टे से हानि और प्रतिकार का उपाय जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों को शामिल करते हुए ब्रिटिश राज की साम्राज्यवादी नीति की आलोचना प्रस्तुत की और औपनिवेशिक तंत्र में जकड़ी भारतीय जनता पर होने वाले अत्याचारों को उजागर किया।

माधवराव सप्रे भारतेंदु युग के लेखकों की ही तरह साहित्यकार एवं पत्रकार दोनों थे। इनका लेखन काल सन् 1900 से सन् 1920 तक का है, जो स्वाधीनता आन्दोलन के उठान का दौर था। माधवराव सप्रे मूलतः मराठी थे, पर वे हिन्दी क्षेत्र के जागरण के लिए सदैव प्रयत्नशील रहे। सप्रे जी के लेख और निबंध राष्ट्र और समाज की ज्वलंत समस्याओं पर आधारित होते थे। माधवराव सप्रे बाल गंगाधर तिलक और विष्णु शास्त्री चिपलूणकर से अत्यंत प्रभावित थे। हिन्दी क्षेत्र में तिलक के राष्ट्रवादी और उपनिवेशवाद विरोधी विचारों का प्रसार करने के लिए सप्रे जी ने हिन्दी *केसरी* नामक साप्ताहिक निकालने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। जिन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए महाराष्ट्र में मराठी *केसरी* का प्रकाशन शुरू किया गया था, उन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखकर सप्रे जी ने *हिन्दी केसरी* निकालना शुरू किया था। हिन्दी *केसरी* का घोषित उद्देश्य था - राजनैतिक दासत्व से मुक्त होकर स्वराज्य प्राप्त करना। सप्रे जी की पत्रकारिता एवं वैचारिक दृष्टिकोण पर बाल गंगाधर तिलक के विचारों का अत्यंत गहरा

प्रभाव था। हिन्दी *केसरी* के राष्ट्रवादी विचारों की लोकप्रियता इतनी बढ़ गई थी कि ब्रिटिश सरकार ने इसके लिए सप्रे जी को गिरफ्तार करके उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया था। हिन्दी *केसरी* में स्वदेशी के प्रचार, विदेशी के बहिष्कार, स्वराज्य की जरूरत पर जोर और आत्मगौरव के बोध से संबंधित समाचार और विचार छपते थे तथा उसमें विभिन्न आंदोलनों, आन्दोलनकारियों और क्रांतिकारियों का समर्थन होता था। इस पत्रिका में मौलिक लेखों के साथ-साथ मराठी *केसरी* में छपे लेखों के अनुवाद भी प्रकाशित होते थे।

माधवराव सप्रे ने समर्थ रामदास की प्रसिद्ध मराठी पुस्तक *दासबोध* का भी हिन्दी अनुवाद किया। यह अनुवाद भारतीय नवजागरण के दृष्टिकोण से अत्यंत महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। इसमें ज्ञान की पुरानी परंपरा की नई व्याख्या दिखाई देती है। सन् 1915 में माधवराव सप्रे ने बाल गंगाधर तिलक की प्रसिद्ध कृति *गीता रहस्य* का भी हिन्दी अनुवाद किया। यह अनुवाद सन् 1916 में प्रकाशित हुआ। तिलक की *गीता रहस्य* का भारत की लगभग सभी प्रमुख भाषाओं में अनुवाद किया गया है पर सबसे पहले इसका अनुवाद हिन्दी में किया गया। हिन्दी जाति की ज्ञान परंपरा के विस्तार पर इस पुस्तक का गहरा असर पड़ा है। तिलक ने इस पुस्तक के माध्यम से *गीता* के कर्मयोग की वृहद् व्याख्या की थी। उन्होंने इस पुस्तक के माध्यम से मोक्ष की जगह कर्म को केन्द्र में लाने का काम किया। पराधीनता के दौर में तिलक इस पुस्तक के माध्यम से लोगों को जागृत करना चाहते थे कि जब देश गुलाम हो तो मोक्ष की बात नहीं करनी चाहिए। कर्म करना चाहिए। तिलक लोगों को देश की दुर्दशा से अवगत कराना चाह रहे थे। अकारण नहीं है कि महात्मा गांधी तिलक के *गीता रहस्य* से बेहद प्रभावित थे। माधवराव सप्रे द्वारा हिन्दी में अनूदित *गीता रहस्य* के अब तक पच्चीस से अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। स्पष्टतः इस पुस्तक ने लोगों में एक नए उत्साह का संचार किया और उन्हें सांसारिक मुक्ति एवं मोक्ष के लिए प्रयासरत होने की जगह राष्ट्रीय मुक्ति के कर्म में प्रवृत्त किया। माधवराव सप्रे के अनुवादों ने हिन्दी भाषा एवं साहित्य में मराठी नवजागरण के मूल तत्त्वों का प्रसार किया तथा हिन्दी नवजागरण को भारतीय नवजागरण की मूल चेतना से जोड़ने में ऐतिहासिक भूमिका निभाई।

द्विवेदी युग के दौरान भारतीय भाषाओं विशेष रूप से बांग्ला और मराठी की जिन महत्त्वपूर्ण कृतियों का हिन्दी अनुवाद किया गया वे भारतीय नवजागरण की चेतना से अनुप्राणित थीं। इन अनुवादों ने हिन्दी नवजागरण की चेतना को नई ऊर्जा दी और खड़ी बोली में आधुनिक भाव-बोध को अभिव्यक्त करने का मार्ग प्रशस्त किया। इन सबके परिणामस्वरुप हिन्दी जाति में राष्ट्रीय चेतना के विकास को एक ठोस वैचारिक आधार मिला।

उन्नीसवीं सदी के हिन्दी अनुवादों में हिन्दी भाषा की शब्द-संपदा और स्वरूप विस्तार का प्रश्न भी महत्त्वपूर्ण थ। इस लक्ष्य को साधने के क्रम में सभी अनुवादकों एवं साहित्यकारों ने कई प्रयोग किए। अनुवादों की भाषा में संस्कृत शब्दों का अतिरेक, अतिशय उर्दूपन अथवा फारसी शब्दों का निषेध इसी प्रयोग के परिणाम के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रयास में इतिहास के अलग-अलग दौर में साहित्यकारों एवं हिन्दी प्रेमियों ने अपनी-अपनी तरह से योगदान दिया। हिन्दी नवजागरण में स्वदेशी पर अत्यधिक जोर दिया जा रहा था। इस कारण हिन्दी अनुवादों में प्राचीन भारतीय साहित्य की भाषा संस्कृत के शब्दों का आधिक्य स्वाभाविक था। उन्नीसवीं सदी के हिन्दी आन्दोलन के दौरान हिन्दी भाषा की विचार-प्रणाली एवं ज्ञान-परंपरा का अभूतपूर्व विस्तार हुआ, जिसमें अनुवाद की ऐतिहासिक भूमिका रही। अनुवादों के प्रभाव से हिन्दी साहित्य में आगे चलकर राष्ट्रीय चेतना से संबंधित विविध विषयों पर अनेक मौलिक रचनाएँ की गईं, जिससे खड़ी बोली का स्वरूप और स्थिर हुआ। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक के काल-खण्ड में हिन्दी जाति में राष्ट्रीय चेतना के प्रसार और हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विकास में अनुवाद की ऐतिहासिक भूमिका रही। भारत जैसे क्षेत्रीय असमानताओं और भिन्न-भिन्न भाषाओं वाले देश में समावेशी राष्ट्रवाद और विविधता में एकता जैसी विशिष्ट सामाजिक-राजनीतिक अवधारणाओं के विकास में भी अनुवाद का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

आधार ग्रन्थ

- देउस्कर, सखाराम गणेश, *देश की बात,* नई दिल्ली, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, पाँचवीं आवृत्ति, सन् 2017
- पाठक, पद्मधर (सम्पा.), *श्रीधर पाठक ग्रन्थावली*, (भाग-2), जोधपुर, राजस्थानी ग्रंथागार, द्वितीय संशोधित संस्करण, सन् 2014
- यायावर, भारत (सम्पा.), *महावीर प्रसाद द्विवेदी रचनावली,* खंड दस, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण, सन् 2007
- सिंह, ओमप्रकाश, *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली-1* [नाटक निबन्ध और मौलिक नाटक], प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 2008
- सिंह, ओमप्रकाश, *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ग्रंथावली-2* [नाटक (अनूदित), संवाद, श्री रामलीला और चरितावली], प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 2008
- सिंह, ओमप्रकाश (सम्पा.), *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ग्रंथावली,* खण्ड 6 एवं 7, दिल्ली, प्रकाशन संस्थान, संस्करण, सन् 2011

सहायक ग्रन्थ

- ऑर्सीनी, फ्रांचेस्का, (अनु.) नीलाभ, *हिंदी का लोकवृत्त,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 2011
- अच्युतन, ए., *नाट्यानुवाद सिद्धान्त और विवेचना,* दिल्ली, वाणी प्रकाशन, सन् 2006
- अय्यर, एन. ई. विश्वनाथ, *व्यावहारिक अनुवाद,* दिल्ली, प्रतिभा प्रतिष्ठान प्रकाशन, सन् 2009
- अग्रवाल, पुरुषोत्तम, *विचार का अनंत*, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् 2000
- कमलेश्वर, *कितने पाकिस्तान,* दिल्ली, राजपाल एंड संस, प्रथम संस्करण, सन् 2000

- कुमार, प्रमोद, *राष्ट्रीयता की अवधारणा और भारतेन्दुयुगीन साहित्य,* अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, पुनर्मुद्रण, सन् 2016
- केजरीवाल, ओमप्रकाश, *भारत के अतीत की खोज,* दिल्ली, किताबघर प्रकाशन, संस्करण, सन् 2017
- कॉफ, डेविड, *ब्रिटिश ओरियंटलिज्म ऐण्ड बंगाल रेनेसाँ,* फार्मा के. एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता, सन् 1969
- कुमार, शीतांशु, *ब्रिटिश प्राच्यवाद और हिंदी साहित्येतिहास की अवधारणाएं,* कलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकाता में सन् 2013 में प्रस्तुत पीएच.डी. थीसिस
- खण्डेलवाल, डॉ. जयकिशन प्रसाद, *हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियां,* विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, सन् 1977
- गाबा, ओम प्रकाश, *राजनीति विज्ञान विश्वकोश,* नोएडा, मयूर पेपरबैक्स, दूसरा संस्करण, सन् 2012
- ग्रोवर, बी.एल., अलका मेहता, यशपाल, *आधुनिक भारत का इतिहास,* दिल्ली, एस. चन्द एंड कंपनी लि., 33वां संस्करण, सन् 2012
- चन्द्र, बिपन, अमलेश त्रिपाठी, बरुण डे, *स्वतंत्रता संग्राम,* दिल्ली, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, सत्रहवीं आवृत्ति, सन् 2005
- चन्द्र, विपिन, *आधुनिक भारत का इतिहास,* दिल्ली, ओरियंट ब्लैकस्वॉन, पुनर्मुद्रित, सन् 2010
- ठाकुर, समीक्षा, *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त और गीता रहस्य,* दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, सन् 1998
- डॉ. नगेन्द्र (सम्पा.), *अनुवाद विज्ञान सिद्धांत और अनुप्रयोग,* दिल्ली, दिल्ली माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, द्वितीय पुनर्मुद्रण, सन् 2015
- डॉ. माहेश्वर, *हिंदी बंगला नाटक,* दिल्ली, दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, संस्करण, सन् 1974
- ताराचन्द, *भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास,* भाग-1, दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, सन् 1982
- तलवार, वीरभारत, *रस्साकशी,* वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम (वाणी) संस्करण, सन् 2017
- तिवारी, डॉ. रामचन्द्र, *हिन्दी का गद्य-साहित्य,* वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, चतुर्थ संस्करण, सन् 2004
- दत्त, रजनी पाम, *आज का भारत,* दिल्ली, मैकमिलन प्रकाशन, सन् 1977

- देसाई, ए. आर., *भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि,* सेज पब्लिकेशन प्रा. लि., दिल्ली, सन् 2018
- नवीन, देवशंकर, *अनुवाद अध्ययन का परिदृश्य,* दिल्ली, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, प्रथम संस्करण, सन् 2016
- नेहरू, जवाहरलाल, *विश्व इतिहास की झलक,* दिल्ली, सस्ता साहित्य मण्डल, सन् 2007
- पाण्डेय, मैनेजर, *आलोचना में सहमति और असहमति,* दिल्ली, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् 2013
- पणिक्कर, के.एम., *औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष,* दिल्ली, ग्रन्थ शिल्पी, सन् 2003
- पालीवाल, रीतारानी, *अनुवाद की सामाजिक भूमिका,* नई दिल्ली, सचिन प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् 1991
- पाण्डे, जी.सी., *इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धान्त,* राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1973
- बरनवाल, वीरेन्द्र कुमार, *हिन्द स्वराज: नव सभ्यता-विमर्श,* दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् 2012
- ब्रजरत्नदास, *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र*, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, जन्मशताब्दी-संस्करण, सन् 1950
- मेक्फी, ए.एल. (सम्पा.) *ओरिएंटलिज्म- ए रीडर,* एडिनबर्ग यूनिवर्सिटी प्रेस, एडिनबर्ग, यूके, सन् 2000
- मिश्र, डॉ. विश्वनाथ, *हिन्दी नाटक का पाश्चात्य प्रभाव,* इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, सन् 1966
- राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, *राजनीतिक सिद्धान्त,* नई दिल्ली, सन् 2010
- वर्मा, निर्मल, *भारत और यूरोप: प्रतिश्रुति के क्षेत्र,* दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् 1991
- शुक्ल, रामचन्द्र, *हिंदी साहित्य का इतिहास,* पटना, अनुपम प्रकाशन, संस्करण, सन् 2015
- शर्मा, रामविलास, *महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिन्दी नवजागरण,* दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, सातवाँ संस्करण, सन् 2018

- शर्मा, रामविलास, *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिन्दी नवजागरण की समस्याएँ,* दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, बारहवाँ संस्करण, सन् 2019
- शर्मा, हेमंत (सम्पा.), *भारतेन्दु समग्र,* वाराणसी, हिंदी प्रचारक संस्थान, तृतीय संस्करण, सन् 1989
- शंभुनाथ, अशोक जोशी (सम्पा.), *भारतेंदु और भारतीय नवजागरण*, कलकत्ता, आने वाला कल प्रकाशन, सन् 1986
- शीतांशु, *कंपनी राज और हिंदी*, दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् 2018
- शुक्ल, आनंद कुमार, *आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अनुवाद कर्म,* दिल्ली, अनुज्ञा बुक्स, प्रथम संस्करण, सन् 2017
- सहगल, नवीन चन्द्र, *काव्यानुवाद: सिद्धान्त और समस्याएँ*, दिल्ली, दिल्ली माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, प्रथम संस्करण, सन् 1991
- सईद, एडवर्ड, *ओरिएण्टलिज्म वेस्टर्न कन्सेप्शन्स ऑफ द ओरिएण्ट,* दिल्ली, पेंग्विन बुक्स, सन् 2001
- सरकार, सुमित, *आधुनिक भारत,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पन्द्रहवीं आवृत्ति, सन् 2009
- सिन्हा, रमण, *अनुवाद और रचना का उत्तर-जीवन,* दिल्ली, वाणी प्रकाशन, संस्करण, सन् 2002
- सिंह, रहीस, *आधुनिक भारत: भारत में ब्रिटिश राज का विस्तार (1707-1857),* नोएडा, पियर्सन प्रकाशन, प्रथम संस्करण, सन् 2016
- हुसैन, एहतेशाम, *उर्दू-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास,* इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन, पुनर्मुद्रण : 2016

अंग्रेजी सहायक ग्रन्थ

- Catford, J.C., *A Linguistic Theory of Translation,* UK, Oxford University Press, 1965
- Chatterjee, Partha, *Nationalist Thought and the Colonial World,* Minnesota, United States, University of Minnesota Press, 2007
- Chomsky, Noam, *Aspects of The Theory of Syntax,* London, MIT Press, Cambridge, 2014
- Dalmia, Vasudha, *The Nationalization of Hindu Traditions,* New Delhi, Oxford University Press, 2001

- Kopf, David, *British Orientalism and Bengal Renaissance: The Dynamics of Indian Modernization*, California, University of California Press, 1969
- Marshall, P.J., *British Discovery of Hinduism in The Nineteenth Century*, London, Cambridge University Press, 1964
- Mukherjee, S.N., *Sir William Jones: A Study in Eighteenth Century British Attitudes to India*, London, Cambridge University, Press, 1969
- Naida, E. A. & C. Taper, *The theory & practice of translation*, Leiden, EJ Brell, 1979
- Newmark, Peter, *Approaches to Translation*, *Language Teaching Methodology Series*, 1st Edition, UK, Pergamon, 1980
- Orsini, Francesca, *Hindi Public Sphere (1920-1940)*, New Delhi, Oxford University Press, 1964
- Said, Edward, *Orientalism*, New Delhi, Penguin Books, 2001
- Shastri, Pratima Dave, *Fundamental Aspects of Translation*, Delhi, PHI Learning Private Limited, 2012
- Teltscher, Kate: *India Inscribed (European and British Writing on India) 1600-1800*, New Delhi, Oxford University Press, 1995

पत्र-पत्रिकाएँ

- गुप्ता, नीता (सम्पा.), *अनुवाद*, अनुवाद शतक विशेषांक-II, भारतीय अनुवाद परिषद, नई दिल्ली, जनवरी-जून, सन् 2000
- सिंह, नामवर (सम्पा.), *आलोचना*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, अप्रैल-जून, सन् 1985
- शाही, सदानंद (सम्पा.), *साखी*, वाराणसी, अंक 15-16

ब्लॉग

- https://deoshankarnavin.blogspot.com/2011/01/blog-post.html

वेबसाइट

- www.hindisamay.com
- https://ncert.nic.in/
- http://nationalarchives.nic.in/